DELHI UNIVERSITY
LIBRARY

DELHI UNIVERSITY LIBRARY

Cl. No. O152:3M80n

H0

Date of release for loan

Ac. No. 191600

This book should be returned on or before the date last stamped below. An overdue charge of Six nP will be charged for each day the book is kept overtime

4.7.67			
3 FEB 1967			
FEB 1967			
3-67			
8 MAR 1967			
APR 1967			
5 MAY 1967			

असर नहीं होता। जिनकी आँखें श्मशान में या कबरिस्तान में भी सजल नहीं होतीं, वे लोग भी उपन्यास के मर्मस्पर्शी स्थलों पर पहुँचकर रोने लगते हैं। शायद इसका यह कारण भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुँच सकते, जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रों और मन के बीच में जड़ता का वह परदा नहीं होता, जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है। और अगर हम यथार्थ को हूबहू खींचकर रख दें तो उसमें कला कहाँ है। कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है। कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका माप-दंड भी जीवन के माप दंड से अलग है। जीवन में बहुधा हमारा अन्त उस समय हो जाता है जब वह वांछनीय नहीं होता। जीवन किसी का दायी नहीं है। उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम, कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता। कम-से-कम मनुष्य के लिये वह अज्ञेय है; लेकिन कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत् है और परिमित होने के कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है, और जहाँ वह हमारी मानवी न्याय-बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है। हम उसे दंड देने के लिये तैयार हो जाते हैं। कथा में अगर किसी को सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा, दु:ख भी मिलता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता, जब तक मानव न्याय-बुद्धि उसकी मौत न माँगे। स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हरेक कृति के लिये जवाब देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रान्ति है; पर वह भ्रान्ति जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।

हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पच्छिम से ली है। कम-से-कम

इसका आज का विकसित रूप तो पच्छिम का है ही। अनेक कारणों से जीवन की अन्य धाराओं की तरह ही साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक गई और हमने प्राचीन से जौ-भर इधर-उधर हटना भी निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिये प्राचीनों ने जो मर्यादाएँ बाँध दी थीं उनका उल्लंघन करना वर्जित था। अतएव काव्य, नाटक, कथा, किसी में भी हम आगे कदम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है, जब तक उसमें कुछ नवीनता न लाई जाय। एक ही तरह के नाटक, एक ही तरह के काव्य पढ़ते-पढ़ते आदमी ऊब जाता है, और वह कोई नयी चीज़ चाहता है, चाहे वह उतनी सुन्दर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ या तो यह इच्छा उठी ही नहीं, या हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गई। पश्चिम प्रगति करता रहा, उसे नवीनता की भूख थी, मर्यादाओं की बेड़ियों से चिढ़। जीवन के हरेक विभाग में उसकी इस अस्थिरता की, असन्तोष की, बेड़ियों से मुक्त हो जाने की छाप लगी हुई है। साहित्य में भी उसने क्रान्ति मचा दी। शेक्सपियर के नाटक अनुपम हैं; पर आज उन नाटकों का जनता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। आज के नाटक का उद्देश्य कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा-साहित्य में भी विकास हुआ और उसके विषय में चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो; पर शैली तो बिल्कुल ही बदल गई। अलिफ़लैला उस वक्त का आदर्श था, उसमें बहुरूपता थी, वैचित्र्य था, कुतूहल था; रोमांस था, पर उसमें जीवन की समस्याएँ न थीं, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियों की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्य रूप में इतना स्पष्ट न था। उसका रूपान्तर हुआ और उपन्यास का उदय हुआ, जो कथा और ड्रामा के बीच की वस्तु है। पुराने दृष्टान्त भी रूपान्तरित होकर गल्प बन गए।

मगर ५० बरस पहले यूरोप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बड़े-बड़े उच्चकोटि के दार्शनिक तथा ऐतिहासिक या सामाजिक उपन्यास लिखे जाते थे; लेकिन छोटी कहानियों की ओर किसी का ध्यान न जाता था। हाँ, परियों और भूतों की कहानियाँ लिखी जाती थीं; किन्तु इसी एक शताब्दी के अन्दर, या उससे भी कम समझो, छोटी कहानियों ने साहित्य के और सभी अंगों पर विजय प्राप्त कर ली है, और यह कहना गलत न होगा कि जैसे किसी ज़माने में कवित्त ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है। और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के कितने ही महान् कलाकारों की प्रतिभा से, जिनमें बालज़क, मपासा, चेखाफ़, टालस्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि मुख्य हैं। हिन्दी में तो पचीस-तीस साल पहले तक गल्प का जन्म न हुआ था। आज तो कोई ऐसी पत्रिका नहीं जिसमें दो चार कहानियाँ न हों, यहाँ तक कि कई पत्रिकाओं में केवल कहानियाँ ही दी जाती हैं।

कहानियों के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आजकल का जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह जमाना नहीं रहा, कि हम 'बोस्ताने खयाल' लेकर बैठ जायँ और सारे दिन उसी की कुंजो में विचरते रहें। अब तो हम संग्राम में इतने तन्मय हो गए हैं कि हमें मनोरंजन के लिये समय ही नहीं मिलता। अगर कुछ मनोरंजन स्वास्थ्य के लिये अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए विना नित्य अट्ठारह घंटे काम कर सकते, तो शायद हम मनो-रजन का नाम भी न लेते; लेकिन प्रकृति ने हमें विवश कर दिया है। इस-लिये हम चाहते हैं कि थोड़े-से-थोड़े समय में अधिक-से-अधिक मनोरंजन हो जाय। इसलिये सिनेमा-गृहों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में महीनों लगते, उसका आनन्द हम दो घंटो में उठा

लेते हैं। कहानी के लिये पन्द्रह-बीस मिनट ही काफ़ी हैं; अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े-से-थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पावे, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किए रहे, उसमें कुछ चटपटा-पन हो, कुछ ताज़गी हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हो। तत्त्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते; लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिये, मन के सुन्दर भावों को जागृत करने के लिये, कुछ-न-कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है, जिसमें इन दोनों में एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना, कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं न-कहीं देवता अवश्य छिपा होता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका का काम है। विपत्ति-पर-विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है, यहाँ तक कि वह बड़े-से-बड़े संकट का सामना करने के लिये ताल ठोंककर तैयार हो जाता है। उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है। उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है। हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें,

तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं। और उनसे पैदा होनेवाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन-सिद्धान्तों की हत्या कर डाले! कितना भीषण द्वन्द्व है! पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वों का अखंड स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा माँगते देखकर क्या छली भाई को ज़रा भी पश्चात्ताप न होगा! अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है; मगर कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुञ्जायश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं; वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्त्व निकले वह सर्वमान्य हो, और उसमें कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है, कि हमें उसी बात में आनन्द आता है, जिससे हमारा कुछ सम्बन्ध हो। जुआ खेलनेवाले को जो उन्माद और उल्लास होता है, वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं, कि पाठक अपने को उनके स्थान पर समझ लेता है, तभी उसे कहानी में आनन्द प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी, तो वह अपने उद्देश्य में असफल है।

इस पुस्तक में हमने अपनी उन्हीं कहानियों का संग्रह किया है, जो

कुमार-जीवन के लिये विशेष रूप से अनुकूल समझी गई। तीन को छोड़कर शेष सभी कहानियाँ ग्राम्य-जीवन से सम्बन्ध रखती हैं, जहाँ तुम्हें अपेक्षाकृत जीवन का मुक्त प्रवाह दिखाई देता है, अपने प्रेम और त्याग, कलह और द्वेष के मौलिक रूप में। जिस देश के ८० फ़ी सदी मनुष्य गाँवो में बसते हों उसके साहित्य में ग्राम-जीवन ही प्रधान रूप से चित्रित होना स्वाभाविक है। उन्ही का सुख राष्ट्र का सुख, उनका दुःख राष्ट्र का दुःख और उन्ही की समस्याएँ राष्ट्र की समस्याएँ हैं।

—प्रेमचन्द

अनुक्रम

प्रेरणा	...	...	१
डिमांस्ट्रेशन	...	...	२१
मन्त्र	...	...	३६
सती	...	...	६२
मन्दिर	...	...	८२
कज़ाकी	...	...	६६
क्षमा	...	...	११७
मुक्ति-मार्ग	...	...	१३१
डिक्री के रुपये	...	...	१४६
सवा सेर गेहूँ	...	...	१७४
सुजान भगत	...	...	१८६

प्रेम-पीयूष

प्रेरणा

[१]

मेरी कक्षा में सूर्यप्रकाश से ज्यादा ऊधमी कोई लड़का न था; बल्कि यों कहो कि अध्यापन-काल के दस वर्षों में मुझे ऐसी विषम-प्रकृति के शिष्य से साबका न पड़ा था। कपट-क्रीड़ा में उसकी जान बसती थी। अध्यापकों को बनाने और चिढ़ाने, उद्योगी बालकों को छेड़ने और रुलाने में ही उसे आनन्द आता था। ऐसे-ऐसे षड्यन्त्र रचता, ऐसे-ऐसे फन्दे डालता, ऐसे-ऐसे बाँधनू बाँधता कि देखकर आश्चर्य होता था। गरोहबन्दी में अभ्यस्त था। खुदाई फ़ौजदारों की एक फ़ौज बना ली थी और उसके आतंक से शाला पर शासन करता था। मुख्य अधिष्ठाता की आज्ञा टल जाय; मगर क्या मजाल कि कोई उसके हुक्म की अवज्ञा कर सके। स्कूल के चपरासी और अर्दली उससे थर-थर काँपते थे। इन्सपेक्टर का मुआइना होनेवाला था, मुख्य अधिष्ठाता ने हुक्म दिया कि लड़के निर्दिष्ट समय से आध घंटा पहले आ जायँ। मतलब यह था कि लड़कों को मुआइने के बारे में कुछ ज़रूरी बातें बता दी जायँ; मगर दस बज गए, इन्स्पेक्टर साहब आकर बैठ गए, और मदरसे में एक लड़का भी नहीं! ग्यारह

बजे सब छात्र इस तरह निकल पड़े, जैसे कोई पिंजरा खोल दिया गया हो। इन्सपेक्टर साहब ने कैफ़ियत में लिखा— डिसिप्लिन बहुत ख़राब है। प्रिंसिपल साहब की किरकिरी हुई, अध्यापक बदनाम हुए, और यह सारी शरारत सूर्यप्रकाश की थी; मगर बहुत पूछ-ताछ करने पर भी किसी ने सूर्य-प्रकाश का नाम तक न लिया। मुझे अपनी संचालन-विधि पर गर्व था। ट्रेनिंग-कालेज में इस विषय में मैंने ख्याति प्राप्त की थी; मगर यहाँ मेरा सारा संचालन-कौशल जैसे मोर्चा खा गया था। कुछ अक्ल ही काम न करती कि इस शैतान को कैसे सन्मार्ग पर लाएँ। कई बार अध्यापकों की बैठक हुई; पर यह गिरह न खुली। नयी शिक्षा-विधि के अनुसार मैं दंडनीति का पक्षपाती न था; मगर यहाँ हम इस नीति से केवल इसलिये विरक्त थे कि कहीं उपचार रोग से भी असाध्य न हो जाय। सूर्यप्रकाश को स्कूल से निकाल देने का प्रस्ताव भी किया गया; पर इसे अपनी अयोग्यता का प्रमाण समझकर हम इस नीति के व्यवहार करने का साहस न कर सके। बीस-बाईस अनुभवी और शिक्षण-शास्त्र के आचार्य एक बारह-तेरह साल के उद्दंड बालक का सुधार न कर सकें, यह विचार बहुत ही निराशाजनक था। यों तो सारा स्कूल उससे त्राहि-त्राहि करता था; मगर सबसे ज्यादा संकट में मैं था; क्योंकि वह मेरी कक्षा का छात्र था, और उसकी शरारतों का कुफल मुझे भोगना पड़ता था। मैं स्कूल आता, तो हरदम यही खटका लगा रहता था कि देखें आज क्या विपत्ति आती है। एक

दिन मैंने, अपनी मेज की दराज खोली तो उसमें से एक बड़ा-सा मेंढक निकल पड़ा। मैं चौंककर पीछे हटा, तो क्लास में एक शोर मच गया। उसकी ओर सरोष नेत्रों से देखकर रह गया। सारा घंटा उपदेश में बीत गया और वह पट्ठा सिर झुकाए नीचे मुसकरा रहा था। मुझे आश्चर्य होता था कि वह नीचे की कक्षाओं में कैसे पास हुआ था। एक दिन मैंने गुस्से से कहा—'तुम इस कक्षा से उम्र भर नहीं पास हो सकते।' सूर्यप्रकाश ने अविचलित भाव से कहा—'आप मेरे पास होने की चिन्ता न करें। मैं हमेशा पास हुआ हूँ और अब की भी हूँगा।'

'असम्भव।'

'असम्भव सम्भव हो जायगा!'

मैं साश्चर्य उसका मुँह देखने लगा। ज़हीन-से-ज़हीन लड़का भी अपनी सफलता का दावा इतने निर्विवादरूप से न कर सकता था। मैंने सोचा, यह प्रश्नपत्र उड़ा लेता होगा। मैंने प्रतिज्ञा की, अबकी इसकी एक चाल भी न चलने दूँगा। देखूँ, कितने दिन इस कक्षा में पड़ा रहता है। आप घबराकर निकल जायगा।

वार्षिक परीक्षा के अवसर पर मैंने असाधारण देख-भाल से काम लिया। मगर जब सूर्यप्रकाश का उत्तर-पत्र देखा, तो मेरे विस्मय की सीमा न रही। मेरे दो पर्चे थे, दोनों ही में उसके नम्बर कक्षा में सबसे अधिक थे। मुझे खूब मालूम था कि वह मेरे किसी पर्चे का कोई प्रश्न भी हल नहीं कर

थी ; किन्तु पद-लिप्सा अब किसी और भी ऊँची डाली पर आश्रय लेना चाहती थी। शिक्षा-मन्त्री से रब्त-ज़ब्त पैदा किया। मन्त्री महोदय मुझपर कृपा रखते थे; मगर वास्तव में शिक्षा के मौलिक सिद्धान्तों का उन्हें ज्ञान न था। मुझे पाकर उन्होंने सारा भार मेरे ऊपर डाल दिया। घोड़े पर सवार वह थे, लगाम मेरे हाथ में थी। फल यह हुआ कि उनके राजनैतिक विपक्षियों से मेरा विरोध हो गया। मुझ-पर जा-बेजा आक्रमण होने लगे। मैं सिद्धान्त-रूप से अनिवार्य शिक्षा का विरोधी हूँ। मेरा विचार है कि हर-एक मनुष्य को उन विषयों में ज्यादा-से-ज्यादा स्वाधीनता होनी चाहिए, जिनका उससे निज का सम्बन्ध है। मेरा विचार है कि यूरोप में अनिवार्य शिक्षा की ज़रूरत है, भारत में नहीं। भौतिकता पश्चिमी सभ्यता का मूल तत्त्व है। वहाँ किसी काम की प्रेरणा आर्थिक लाभ के आधार पर होती है। जिन्दगी की ज़रूरतें ज्यादा हैं; इसलिये जीवन संग्राम भी अधिक भीषण है। माता-पिता भोग के दास होकर बच्चों को जल्द-से जल्द कुछ कमाने पर मज़बूर करते हैं। इसी की जगह कि वह मद का त्याग करके एक शिलिंग रोज की बचत कर ले, वे अपने कम-सिन बच्चे को एक शिलिंग की मज़दूरी करने के लिये दबाएँगे। भारतीय जीवन में सात्त्विक सरलता है। हम उस वक्त तक अपने बच्चों से मजदूरी नहीं कराते, जब तक कि परिस्थिति हमें विवश न कर दे। दरिद्र-से-दरिद्र हिन्दुस्तानी मज़दूर भी शिक्षा के उपकारों का कायल है। उसके मन में यही

अभिलाषा होती है कि मेरा बच्चा चार अक्षर पढ़ जाय। इसलिये नहीं कि उसे कोई अधिकार मिलेगा; बल्कि केवल इसीलिये कि विद्या मानवी शील का एक शृंगार है। अगर यह जानकर भी वह अपने बच्चे को मदरसे नहीं भेजता, तो समझ लेना चाहिए कि वह मजबूर है। ऐसी दशा में उस पर कानून का प्रहार करना मेरी दृष्टि में न्याय-संगत नहीं। इसके सिवा मेरे विचार में अभी हमारे देश में योग्य शिक्षकों का अभाव है। अर्द्धशिक्षित और अल्पवेतन पानेवाले अध्यापकों से आप यह आशा नहीं रख सकते कि वे कोई ऊँचा आदर्श अपने सामने रख सकें। अधिक-से-अधिक इतना ही होगा कि चार-पाँच वर्ष में बालक को अक्षर-ज्ञान हो जायगा। मैं इसे पर्वत खोदकर चुहिया निकालने के तुल्य समझता हूँ। वयस् प्राप्त हो जाने पर यह मरहला एक महीने में आसानी से तय किया जा सकता है। मैं अनुभव से कह सकता हूँ कि युवावस्था में हम जितना ज्ञान एक महीने में प्राप्त कर सकते हैं, उतना बाल्यावस्था में तीन साल में भी नहीं कर सकते, फिर खामख्वाह बच्चों को मदरसे में कैद करने से क्या लाभ। मदरसे के बाहर रहकर उसे स्वच्छ वायु तो मिलती, प्राकृतिक अनुभव तो होते। पाठशाला में बन्द करके तो आप उसके मानसिक और शारीरिक दोनों विधानों की जड़ काट देते हैं; इसलिये जब प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा में अनिवार्य शिक्षा का प्रस्ताव पेश हुआ, तो मेरी प्रेरणा से मिनिस्टर साहब ने उसका विरोध किया। नतीजा यह हुआ कि प्रस्ताव अस्वीकृत

हो गया। फिर क्या था। मिनिस्टर साहब की और मेरी वह ले-दे शुरू हुई कि कुछ न पूछिए। व्यक्तिगत आक्षेप किए जाने लगे। मैं गरीब की बीवी था, मुझे ही सबकी भाभी बनना पड़ा। मुझे देश-द्रोही, उन्नति का शत्रु और नौकरशाही का गुलाम कहा गया। मेरे कालेज में ज़रा-सी भी कोई बात होती तो कौंसिल में मुझपर प्रश्नों की वर्षा होने लगती। मैंने एक चपरासी को पृथक् किया। सारी कौंसिल पंजे झाड़कर मेरे पीछे पड़ गई। आख़िर मिनिस्टर को मजबूर होकर उस चपरासी को बहाल करना पड़ा। यह अपमान मेरे लिये असह्य था। शायद कोई भी इसे सहन न कर सकता। मिनिस्टर साहब से मुझे शिकायत नहीं। वह मजबूर थे। हाँ, इस वातावरण में काम करना मेरे लिये दुस्साध्य हो गया। मुझे अपने कालेज के आन्तरिक संगठन का भी अधिकार नहीं। अमुक क्यों नहीं परीक्षा में भेजा गया, अमुक के बदले अमुक को क्यों नहीं छात्रवृत्ति दी गई, अमुक अध्यापक को अमुक कक्षा क्यों नहीं दी जाती, इस तरह के सारहीन आक्षेपों ने मेरा नाक में दम कर दिया था। इस नयी चोट ने कमर तोड़ दी। मैंने इस्तीफा दे दिया।

मुझे मिनिस्टर साहब से इतनी आशा अवश्य थी कि वह कम से-कम इस विषय में न्यायपरायणता से काम लेंगे; मगर उन्होंने न्याय की जगह नीति को मान्य समझा, और मुझे कई साल की भक्ति का यह फल मिला कि मैं पदच्युत कर दिया गया। संसार का ऐसा कटु अनुभव मुझे अब तक न हुआ

था। ग्रह भी कुछ बुरे आ गए थे, उन्हीं दिनों पत्नी का देहान्त हो गया। अन्तिम दर्शन भी न कर सका। सन्ध्या-समय नदी तट पर सैर करने गया था। वह कुछ अस्वस्थ थीं। लौटा, तो उनकी लाश मिली। कदाचित् हृदय की गति बन्द हो गई थी। इस आघात ने कमर तोड़ दी। माता के प्रसाद और आशीर्वाद से बड़े-बड़े महान् पुरुष कृतार्थ हो गए हैं। मैं जो कुछ हुआ, पत्नी के प्रसाद और आशीर्वाद से हुआ। वह मेरे भाग्य की विधात्री थीं। कितना अलौकिक त्याग था, कितना विशाल धैर्य। उनके माधुर्य में तीक्ष्णता का नाम भी न था। मुझे याद नहीं आता कि मैंने कभी उनकी भृकुटि संकुचित देखी हो। निराश होना तो जानती ही न थीं। मैं कई बार सख्त बीमार पड़ा हूँ। वैद्य भी निराश हो गए हैं, पर वह अपने धैर्य और शान्ति से अणुमात्र भी विचलित नहीं हुईं। उन्हें विश्वास था कि मैं अपने पति के जीवन-काल में मरूँगी और वही हुआ भी। मैं जीवन में अब तक उन्हीं के सहारे खड़ा था। जब वह अवलम्ब ही न रहा, तो जीवन कहाँ रहता। खाने और सोने का नाम जीवन नहीं है। जीवन नाम है, सदैव आगे बढ़ते रहने की लगन का। वह लगन ग़ायब हो गई। मैं संसार से विरक्त हो गया और एकान्तवास में जीवन के दिन व्यतीत करने का निश्चय करके एक छोटे से गाँव में जा बसा। चारों तरफ ऊँचे ऊँचे टीले थे, एक ओर गंगा बहती थी। मैंने नदी के किनारे एक छोटा-सा घर बना लिया और उसी में रहने लगा।

[३]

मगर काम करना तो मानवी स्वभाव है। बेकारी में जीवन कैसे कटता। मैंने एक छोटी-सी पाठशाला खोल ली। एक वृक्ष की छाँह में, गाँव के लड़कों को जमाकर कुछ पढ़ाया करता था। उसकी यहाँ इतनी ख्याति हुई कि आस-पास के गाँव के छात्र भी आने लगे।

एक दिन मैं अपनी कक्षा को पढ़ा रहा था कि पाठशाला के पास एक मोटर आकर रुकी और उसीमें से उस ज़िले के डिप्टी कमिश्नर उतर पड़े। मैं उस समय केवल एक कुर्ता और धोती पहने हुए था। इस वेष में एक हाकिम से मिलते हुए शर्म आ रही थी। डिप्टी कमिश्नर मेरे समीप आए, तो मैंने झेंपते हुए हाथ बढ़ाया; मगर वह मुझसे हाथ मिलाने के बदले मेरे पैरों की ओर झुके और उनपर सिर रख दिया। मैं कुछ ऐसा सिटपिटा गया कि मेरे मुँह से एक शब्द भी न निकला। मैं अंगरेज़ी अच्छी लिखता हूँ, दर्शनशास्त्र का भी आचार्य हूँ, व्याख्यान भी अच्छे दे लेता हूँ; मगर इन गुणों में एक भी श्रद्धा के योग्य नहीं। श्रद्धा तो ज्ञानियों और साधुओं ही के अधिकार की वस्तु है। अगर मैं ब्राह्मण होता, तो एक बात थी। हालाँ कि एक सिविलियन का किसी ब्राह्मण के पैरों पर सिर रखना अचिन्तनीय है।

मैं अभी इसी विस्मय में पड़ा हुआ था कि डिप्टी कमिश्नर ने सिर उठाया और मेरी तरफ देखकर कहा—'आपने शायद मुझे पहचाना नहीं।'

इतना सुनते ही मेरे स्मृति-नेत्र खुल गए, बोला—'आपका नाम सूर्यप्रकाश तो नहीं है ?'

'जी हाँ, मैं आपका वही अभागा शिष्य हूँ।'

'बारह तेरह वर्ष हो गए !'

सूर्यप्रकाश ने मुसकराकर कहा—'अध्यापक लड़कों को भूल जाते हैं; पर लड़के उन्हें हमेशा याद रखते हैं।'

मैंने उसी विनोद के भाव से कहा—तुम जैसे लड़कों को भूलना असम्भव है।'

सूर्यप्रकाश ने विनीत स्वर में कहा—'उन्हीं अपराधों को क्षमा कराने के लिये सेवा में आया हूँ। मैं सदैव आपकी ख़बर लेता रहता था। जब आप इंगलैंड गए, तो मैंने आपके लिये बधाई का पत्र लिखा; पर उसे भेज न सका। जब आप प्रिंसिपल हुए, मैं इंगलैंड जाने को तैयार था। वहाँ मैं पत्रिकाओं में आपके लेख पढ़ता रहता था। जब लौटा, तो मालूम हुआ कि आपने इस्तीफा दे दिया और कहीं देहात में चले गए हैं। इस ज़िले में आए हुए मुझे एक वर्ष से अधिक हुआ; पर इसका ज़रा भी अनुमान न था कि आप यहाँ एकान्तसेवन कर रहे हैं। इस ऊजड़ गाँव में आपका जी कैसे लगता है ? इतनी ही अवस्था में आपने वानप्रस्थ ले लिया ?'

मैं नहीं कह सकता कि सूर्यप्रकाश की उन्नति देखकर मुझे कितना आश्चर्यमय आनन्द हुआ। अगर वह मेरा पुत्र होता, तो भी इससे अधिक आनन्द न होता। मैं उसे अपने झोपड़े में लाया और अपनी रामकहानी कह सुनाई।

सूर्यप्रकाश ने कहा—'तो यह कहिए कि आप अपने ही एक भाई के विश्वासघात का शिकार हुए। मेरा अनुभव तो अभी बहुत कम है; मगर इतने ही दिनों में मुझे मालूम हो गया है कि हम लोग अभी अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करना नहीं जानते। मिनिस्टर साहब से भेंट हुई, तो पूछूँगा कि यही आपका धर्म था ?'

मैंने जवाब दिया—'भाई, उनका कोई दोष नहीं। सम्भव है, इस दशा में मैं भी वही करता, जो उन्होंने किया। मुझे अपनी स्वार्थ-लिप्सा की सज़ा मिल गई, और उसके लिये मैं उनका ऋणी हूँ। बनावट नहीं, सत्य कहता हूँ कि यहाँ मुझे जो शान्ति है, वह और कहीं न थी। इस एकान्तजीवन में मुझे जीवन के तत्त्वों का वह ज्ञान हुआ, जो सम्पत्ति और अधिकार की दौड़ में किसी तरह सम्भव न था। इतिहास और भूगोल के पोथे चाटकर और यूरोप के विद्यालयों की शरण जाकर भी मैं अपनी ममता को न मिटा सका; बल्कि यह रोग दिन-दिन और भी असाध्य होता जाता था। आप सीढ़ियों पर पाँव रखे बगैर छत की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकते। सम्पत्ति की अट्टालिका तक पहुँचने में दूसरों की जिन्दगी ही जीनों का काम देती है। आप उन्हें कुचलकर ही लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। वहाँ सौजन्य और सहानुभूति का स्थान ही नहीं। मुझे ऐसा मालूम होता है कि उस वक्त मैं हिंस्र जन्तुओं से घिरा हुआ था और मेरी सारी शक्तियाँ अपनी आत्मरक्षा में ही लगी रहती थीं। यहाँ मैं अपने चारों ओर

सन्तोष और सरलता देखता हूँ। मेरे पास जो लोग आते हैं, कोई स्वार्थ लेकर नहीं आते हैं, और न मेरी सेवाओं में प्रशंसा या गौरव की लालसा है।'

यह कहकर मैंने सूर्यप्रकाश के चेहरे की ओर ग़ौर से देखा। कपट मुसकान की जगह ग्लानि का रंग था। शायद यह दिखाने आया था कि आप जिसकी तरफ़ से इतने निराश हो गए थे, वह अब इस पद को सुशोभित कर रहा है। वह मुझसे अपने सदुद्योग का बखान चाहता था। मुझे अब अपनी भूल मालूम हुई। एक सम्पन्न आदमी के सामने समृद्धि की निन्दा उचित नहीं। मैंने तुरन्त बात पलट कर कहा—'मगर तुम अपना हाल तो कहो। तुम्हारी यह काया पलट कैसे हुई। तुम्हारी शरारतों को याद करता हूँ तो अब भी रोएँ खड़े हो जाते हैं। किसी देवता के वरदान के सिवा और तो कहीं यह विभूति न प्राप्त हो सकती थी।'

सूर्यप्रकाश ने मुसकराकर कहा—'आपका आशीर्वाद था।'

मेरे बहुत आग्रह करने पर सूर्यप्रकाश ने अपना वृत्तान्त सुनाना शुरू किया—

' आपके चले आने के कई दिन बाद मेरा ममेरा भाई स्कूल में दाखिल हुआ। उसकी उम्र आठ-नौ साल से ज्यादा न थी। प्रिंसिपल साहब उसे होस्टल में न लेते थे और न मामा साहब उसके ठहरने का प्रबन्ध कर सकते थे। उन्हें इस संकट में देखकर मैंने प्रिंसिपल साहब से कहा—'उसे मेरे कमरे में ठहरा दीजिए।' प्रिंसिपल साहब ने इसे नियमविरुद्ध बतलाया।

इसपर मैंने बिगड़कर उसी दिन होस्टल छोड़ दिया, और एक किराये का मकान लेकर मोहन के साथ रहने लगा। उसकी माँ कई साल पहले मर चुकी थी। इतना दुबला-पतला, कमजोर और ग़रीब लड़का था कि पहले ही दिन से मुझे उसपर दया आने लगी। कभी उसके सिर में दर्द होता, कभी ज्वर हो आता। आए दिन कोई-न-कोई बीमारी खड़ी रहती थी। इधर साँझ हुई और उसे झपकियाँ आने लगीं। बड़ी मुश्किल से भोजन करने उठता। दिन चढ़े तक सोया करता और जब तक मैं गोद में उठाकर बिठा न देता, उठने का नाम न लेता। रात को बहुधा चौंककर मेरी चारपाई पर आ जाता और मेरे गले से लिपटकर सोता। मुझे उसपर कभी क्रोध न आता। कह नहीं सकता, क्यों मुझे उससे प्रेम हो गया। मैं जहाँ पहले नौ बजे सोकर उठता था, अब तड़के उठ बैठता और उसके लिये दूध गर्म करता। फिर उसे उठा कर हाथ मुँह धुलाता और नाश्ता कराता। उसके स्वास्थ्य के विचार से नित्य वायुसेवन को ले जाता। मैं, जो कभी किताब लेकर न बैठता था, उसे घंटों पढ़ाया करता। मुझे अपने दायित्व का इतना ज्ञान कैसे हो गया, इसका मुझे आश्चर्य है। उसे कोई शिकायत हो जाती, तो मेरे प्राण नखों में समा जाते। डाक्टर के पास दौड़ता, दवाएँ लाता और मोहन की खुशामद करके दवा पिलाता। सदैव यह चिन्ता लगी रहती थी कि कोई बात उसकी इच्छा के विरुद्ध न हो जाय। इस बेचारे का यहाँ मेरे सिवा दूसरा कौन है।

मेरे चंचल मित्रों में से कोई उसे चिढ़ाता या छेड़ता, तो मेरा त्योरियाँ बदल जाती थीं। कई लड़के तो मुझे बूढ़ी दाई कहकर चिढ़ाते थे; पर मैं हँसकर टाल देता था। मैं उसके सामने एक अनुचित शब्द भी मुँह से न निकालता। यह शंका होती थी कि कहीं मेरी देखादेखी यह भी ख़राब न हो जाय। मैं उसके सामने इस तरह रहना चाहता था कि वह मुझे अपना आदर्श समझे और इसके लिये यह मानो हुई बात थी कि मैं अपना चरित्र सुधारूँ। वह मेरा नौ बजे सोकर उठना, बारह बजे तक मटरगश्ती करना, नयी-नयी शरारतों के मंसूबे बाँधना और अध्यापकों की आँख बचाकर स्कूल से उड़ जाना, सब आप-ही-आप जाता रहा। स्वास्थ्य और चरित्र-पालन के सिद्धान्तों का मैं शत्रु था; पर अब मुझसे बढ़कर उन नियमों का रक्षक दूसरा न था। मैं ईश्वर का उपहास किया करता था, मगर अब पक्का आस्तिक हो गया था। वह बड़े सरल भाव से पूछता, परमात्मा सब जगह रहते हैं, तो मेरे पास भी रहते होंगे। इस प्रश्न का मज़ाक उड़ाना मेरे लिये असम्भव था। मैं कहता—हाँ, परमात्मा तुम्हारे, हमारे, सबके पास रहते हैं और हमारी रक्षा करते हैं। यह आश्वासन पाकर उसका चेहरा आनन्द से खिल उठता था। कदाचित् वह परमात्मा की सत्ता का अनुभव करने लगता था। साल ही भर में मोहन कुछ-से-कुछ हो गया। मामा साहब दोबारा आए, तो उसे देखकर चकित हो गए। आँखों में आँसू भरकर बोले—बेटा! तुमने इसको जिला लिया, नहीं तो मैं निराश हो चुका था।

इसका पुनीत फल तुम्हें ईश्वर देंगे। इसकी माँ स्वर्ग में बैठी हुई तुम्हें आशीर्वाद दे रही है।

सूर्यप्रकाश की आँखें उस वक्त भी सजल हो गई थीं।

मैंने पूछा—'मोहन भी तुम्हें बहुत प्यार करता होगा?'

सूर्यप्रकाश के सजल नेत्रों में हसरत से भरा हुआ आनन्द चमक उठा, बोला—'वह मुझे एक मिनट के लिये भी न छोड़ता था। मेरे साथ बैठता, मेरे साथ खाता, मेरे साथ सोता। मैं ही उसका सब कुछ था। आह! वही संसार में नहीं है; मगर मेरे लिये वह अब भी उसी तरह जीता-जागता है। मैं जो कुछ हूँ, उसी का बनाया हुआ हूँ। अगर वह दैवी विधान की भाँति मेरा पथप्रदर्शक न बन जाता, तो शायद आज मैं किसी जेल में पड़ा होता। एक दिन मैंने कह दिया था—अगर तुम रोज नहा न लिया करोगे, तो मैं तुमसे न बोलूँगा। नहाने से वह न जाने क्यों जी चुराता था। मेरी इस धमकी का फल यह हुआ कि वह नित्य प्रातःकाल नहाने लगा। कितनी ही सर्दी क्यों न हो,. कितनी ठंढी हवा चले; लेकिन वह स्नान अवश्य करता था। देखता रहता था, मैं किस बात से खुश होता हूँ। एक दिन मैं कई मित्रों के साथ थियेटर देखने चला गया, ताकीद कर गया था कि तुम खाना खाकर सो रहना। तीन बजे रात को लौटा, तो देखा कि वह बैठा हुआ है। मैंने पूछा—तुम सोए नहीं? बोला—नींद नहीं आई। उस दिन से मैंने थियेटर जाने का नाम न लिया। बच्चों में प्यार की जो एक भूख होती है—दूध, मिठाई और

खिलौनों से भी ज्यादा मादक—जो माँ की गोद के सामने संसार की निधि की भी परवाह नहीं करते मोहन की वह भूख कभी सन्तुष्ट न होती थी। पहाड़ों से टकरानेवाली सारस की आवाज़ की तरह वह सदैव उसकी नसों में गूँजा करती थी। जैसे, भूमि पर फैली हुई लता कोई सहारा पाते ही उससे चिपट जाती है, वही हाल मोहन का था। वह मुझसे ऐसा चिपट गया था कि पृथक् किया जाता, तो उसकी कोमल वेलि के टुकड़े-टुकड़े हो जाते। वह मेरे साथ तीन साल रहा और तब मेरे जीवन में प्रकाश की एक रेखा-सी डालकर अन्धकार में विलीन हो गया। उस जीर्ण काया में कैसे-कैसे अरमान भरे हुए थे। कदाचित् ईश्वर ने मेरे जीवन में एक अवलम्ब की सृष्टि करने के लिये उसे भेजा था। उद्देश्य पूरा हो गया, तो वह क्यों रहता।'

[४]

गर्मियों की तातील थी। दो तातीलों में मोहन मेरे ही साथ रहा था। मामाजी के आग्रह करने पर भी घर न गया। अबकी कालेज के छात्रों ने काश्मीर-यात्रा करने का निश्चय किया और मुझे उसका अध्यक्ष बनाया। काश्मीर-यात्रा की अभिलाषा मुझे चिरकाल से थी। इस अवसर को गनीमत समझा। मोहन को मामाजी के पास भेजकर मैं काश्मीर चला गया। दो महीने के बाद लौटा तो मालूम हुआ मोहन बीमार है। काश्मीर में मुझे बार-बार मोहन की याद आती थी और जी चाहता था, लौट जाऊँ। मुझे उसपर इतना प्रेम है,

इसका अन्दाज़ मुझे काश्मीर जाकर हुआ; लेकिन मित्रों ने पीछा न छोड़ा। उसकी बीमारी की खबर पाते ही मैं अधीर हो उठा और दूसरे ही दिन उसके पास जा पहुँचा। मुझे देखते ही उसके पीले और सूखे हुए चेहरे पर आनन्द की स्फूर्ति झलक पड़ी। मैं दौड़ कर उसके गले से लिपट गया। उसकी आँखों में वह दूर दृष्टि और चेहरे पर वह अलौकिक आभा थी, जो मँडराती हुई मृत्यु की सूचना देती है। मैंने आवेश से काँपते हुए स्वर में पूछा—यह तुम्हारी क्या दशा है मोहन? दो ही महीने में यह नौबत पहुँच गई? मोहन ने सरल मुसकान के साथ कहा—'आप काश्मीर की सैर करने गए थे, मैं आकाश की सैर करने जा रहा हूँ।'

मगर यह दुःख-कहानी कहकर मैं रोना और रुलाना नहीं चाहता। मेरे चले जाने के बाद मोहन इतने परिश्रम से पढ़ने लगा, मानो तपस्या कर रहा हो? उसे यह धुन सवार हो गई थी कि साल भर की पढ़ाई दो महीने में समाप्त कर ले और स्कूल खुलने के बाद मुझसे इस श्रम का प्रशंसारूपी उपहार प्राप्त करे। मैं किस तरह उसकी पीठ ठोकूँगा, शाबाशी दूँगा, अपने मित्रों से उसका बखान करूँगा, इन भावनाओं ने अपने सारे बालोचित उत्साह और तल्लीनता के साथ उसे वशीभूत कर लिया। मामाजी को दफ्तर के कामों में इतना अवकाश कहाँ कि उसके मनोरंजन का ध्यान रखें। शायद उसे प्रतिदिन कुछ-न-कुछ पढ़ते देखकर वह दिल में खुश होते थे। उसे खेलते देखकर वह ज़रूर डाँटते। पढ़ते देखकर भला

क्या कहते। फल यह हुआ कि मोहन को हल्का-हल्का ज्वर आने लगा; किन्तु उस दशा में भी उसने पढ़ना न छोड़ा। कुछ और व्यतिक्रम भी हुए, ज्वर का प्रकोप और भी बढ़ा; पर उस दशा में भी जब ज्वर कुछ हल्का हो जाता, तो किताबें देखने लगता था। उसके प्राण मुझमें ही बसे रहते थे। ज्वर की दशा में भी नौकरों से पूछता—'भैया का पत्र आया? वह कब आएँगे?' इसके सिवा और कोई दूसरी अभिलाषा न थी। अगर मुझे मालूम होता कि मेरी काश्मीर-यात्रा इतनी महँगी पड़ेगी, तो उधर जाने का नाम भी न लेता। उसे बचाने के लिये मुझसे जो कुछ हो सकता था; वह मैंने सब किया; किन्तु बुखार टाइफायड था, उसकी जान लेकर ही उतरा। उसके जीवन के स्वप्न मेरे लिये किसी ऋषि के आशीर्वाद बनकर मुझे प्रोत्साहित करने लगे और यह उसी का शुभ फल है कि आज आप मुझे इस दशा में देख रहे हैं। मोहन की बाल-अभिलाषाओं को प्रत्यक्ष रूप में लाकर मुझे यह सन्तोष होता है कि शायद उसकी पवित्र आत्मा मुझे देखकर प्रसन्न होती हो। यही प्रेरणा थी; जिसने कठिन-से-कठिन परीक्षाओं में भी बेड़ा पार लगाया; नहीं तो मैं आज भी वही मन्दबुद्धि सूर्यप्रकाश हूँ जिसकी सूरत से आप चिढ़ते थे।

उस दिन से मैं कई बार सूर्यप्रकाश से मिल चुका हूँ, वह जब इस तरफ़ आ जाता है, तो बिना मुझसे मिले नहीं जाता। मोहन को अब भी वह अपना इष्टदेव समझता है।

मानव-प्रकृति का यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे मैं आज तक नहीं समझ सका।

अभ्यास

१—इस कहानी का शीर्षक 'प्रेरणा' क्यों रखा गया है?

२—सूर्यप्रकाश और उसके अध्यापक के चरित्रों में जो परिवर्तन हुए उनकी आलोचना करो।

३—निम्नलिखित वाक्यों का भाव प्रसंग का निर्देश करते हुए स्पष्ट करो—

'घोड़े पर सवार वह थे, लगाम मेरे हाथ में थी।'

'मैं गरीब की बीबी था, मुझे ही सबकी भाभी बनना पड़ा।'

४—नीचे लिखे मुहावरों का तात्पर्य बतलाओ और उनका प्रयोग अपने बनाए वाक्यों में करो—

मक्खी निगलना, पहाड़ खोदकर चुहिया निकालना, पंजे झाड़कर पीछे पड़ना, नाक में दम कर देना, कमर तोड़ देना, मटरगश्ती करना।

५—इस कहानी से पढ़ने-लिखने के सम्बन्ध में कौन-कौन-सी शिक्षाएँ मिलती हैं?

डिमाँसट्रेशन

महाशय गुरुप्रसादजी रसिक जीव हैं, गाने-बजाने का शौक है, खाने-खिलाने का शौक है, और सैर-तमाशे का शौक है; पर उसी मात्रा में द्रव्योपार्जन का शौक नहीं है। यों वह किसी के मुहताज नहीं हैं, भले आदमियों की तरह रहते हैं और हैं भी भले आदमी; मगर किसी काम में चिमट नहीं सकते। गुड़ होकर भी उनमें लस नहीं है। वह कोई ऐसा काम उठाना चाहते हैं, जिसमें चटपट क़ारूँ का खजाना मिल जाय और हमेशा के लिये बेफिक्र हो जायँ। बैंक से छमाही सूद चला आए, खायँ और मज़े से पड़े रहें। किसी ने सलाह दी, नाटक-कम्पनी खोलो। उनके दिल में भी बात जम गई। मित्रों को लिखा—मैं ड्रामेटिक कम्पनी खोलने जा रहा हूँ, आप लोग ड्रामे लिखना शुरू कीजिए। कम्पनी का प्रास-पेक्टस बना, कई महीने उसकी खूब चर्चा रही, कई बड़े-बड़े आदमियों ने हिस्से खरीदने के वादे किए। लेकिन न हिस्से बिके, न कम्पनी खड़ी हुई; हाँ, इसी धुन में गुरुप्रसादजी ने एक नाटक की रचना कर डाली, और यह फिक्र हुई कि इसे किसी कम्पनी को दिया जाय। लेकिन यह तो मालूम ही था, कम्पनी वाले एक ही घाघ होते हैं। फिर हरेक कम्पनी में उसका एक नाटककार भी होता है। वह कब चाहेगा कि उसकी कम्पनी में किसी बाहरी आदमी का प्रवेश हो। वह इस रचना में ग्रा-

तरह के ऐब निकालेगा और कम्पनी के मालिक को भड़का देगा। इसलिये प्रबन्ध किया गया कि मालिकों पर नाटक का कुछ ऐसा प्रभाव जमा दिया जाय कि नाटककार महोदय की कुछ दाल न गल सके। पाँच सज्जनों की एक कमेटी बनाई गई, उसमें सारा प्रोग्राम विस्तार के साथ तय किया गया और दूसरे दिन पाँचों सज्जन गुरुप्रसादजी के साथ नाटक दिखाने चले। ताँगे आ गए। हारमोनियम, तबला आदि सब उसपर रख दिए गए; क्योंकि नाटक का डिमाँसट्रेशन (demonstration) करना निश्चित हुआ था।

सहसा विनोदविहारी ने कहा—'यार, ताँगे पर जाने में तो कुछ बदरोबी होगी। मालिक सोचेगा, यह महाशय यों ही हैं। इस समय दस-पाँच रुपये का मुँह न देखना चाहिए। मैं तो अंगरेज़ों की विज्ञापनबाज़ी का क़ायल हूँ कि रुपये में पन्द्रह आने उसमें लगाकर शेष एक आने में रोज़गार करते हैं। कहीं से दो मोटरें मँगानी चाहिएँ।'

रसिकलाल बोले—'लेकिन केराये की मोटरों से यह बात न पैदा होगी, जो आप चाहते हैं। किसी रईस से दो मोटरें माँगनी चाहिएँ, मारिसन हो या नये चॉल की आस्टिन।'

बात सच्ची थी। भेख से भीख मिलती है। विचार होने लगा किस रईस से याचना की जाय। अजी वह महा खूसट है। सवेरे उसका नाम ले लो, तो दिन भर पानी न मिले। अच्छा सेठजी के पास चलें तो कैसा? मुँह धो रखिए, उसकी

मोटरें अफ़सरों के लिये रिज़र्व हैं, अपने लड़के तक को कभी बैठने नहीं देता, आपको दिए देता है। तो फिर कपूर साहब के पास चलें। अभी उन्होंने नई मोटर ली है। अजी उसका नाम न लो। कोई-न-कोई बहाना करेगा, ड्राइवर नहीं है, मरम्मत में है।

गुरुप्रसाद ने अधीर होकर कहा—'तुम लोगों ने तो व्यर्थ का बखेड़ा कर दिया। ताँगों पर चलने में क्या हरज था।'

विनोदविहारी ने कहा—'आप तो घास खा गए हैं। नाटक लिख लेना दूसरी बात है और मुआमले को पटाना दूसरी बात है। रुपये पृष्ठ सुना देगा, अपना-सा मुँह लेकर रह जाओगे।'

अमरनाथ ने कहा—'मैं तो समझता हूँ, मोटर के लिये किसी राजा-रईस की खुशामद करना बेकार है। तारीफ तो जब है कि पाँव-पाँव चलें और वहाँ ऐसें रंग जमाएँ कि मोटर से भी ज्यादा शान रहे।'

विनोदविहारी उछल पड़े। सब लोग पाँव-पाँव चले। वहाँ पहुँचकर किस तरह बातें शुरू होंगी, किस तरह तारीफ़ों के पुल बाँधे जायँगे, किस तरह ड्रामेटिस्ट साहब को खुश किया जायगा, इसपर बहस होती जाती थी।

वे लोग कम्पनी के कैम्प में कोई दो बजे पहुँचे। वहाँ मालिक साहब, उनके ऐक्टर, नाटककार सब पहले ही से उनका इन्तज़ार कर रहे थे। पान, इलायची, सिगरेट मँगा लिए गए थे।

ऊपर जाते ही रसिकलाल ने मालिक से कहा—'क्षमा

कीजिएगा, हमें आने में देर हुई। हम मोटर से नहीं, पाँव-पाँव आए हैं। आज यही सलाह हुई कि प्रकृति की छटा का आनन्द उठाते चलें। गुरुप्रसादजी तो प्रकृति के उपासक हैं। इनका बस होता, तो आज चिमटा लिए या तो कहीं भीख माँगते होते, या किसी पहाड़ गाँव में वट वृक्ष के नीचे बैठे पक्षियों का चहकना सुनते होते।'

विनोद ने रद्दा जमाया—'और आप भी तो सीधे रास्ते से नहीं, जाने कहाँ-कहाँ का चक्कर लगाते, खाक छानते। पैरों में जैसे सनीचर है।'

अमर ने और रंग जमाया—'पूरे सतजुगी आदमी हैं। नौकर-चाकर तो मोटरों पर सवार होते हैं और आप गली-गली मारे-मारे फिरते हैं। जब और रईस मीठी नींद के मज़े लेते हैं, तो आप नदी के किनारे ऊषा का शृंगार देखते हैं।'

मस्तराम ने फ़रमाया—'कवि होना, माने दीन दुनिया से मुक्त हो जाना है। गुलाब की एक पंखड़ी लेकर उसमें न जाने क्या घंटों देखा करते हैं। प्रकृति की उपासना ने ही यूरोप के बड़े-बड़े कवियों को आसमान पर पहुँचा दिया है। यूरोप में होते, तो आज इनके द्वार पर हाथी झूमता होता। एक दिन एक बालक को रोते देखकर आप रोने लगे। पूछता हूँ—भाई, क्यों रोते हो, तो और रोते हैं। मुँह से आवाज़ नहीं निकलती। बड़ी मुश्किल से आवाज़ निकली।'

विनोद—'जनाब! कवि का हृदय कोमल भावों का स्रोत है, मधुर संगीत का भंडार है, अनन्त का आईना है।'

रसिक—'क्या बात कही है आपने, अनन्त का आईना है! वाह! कवि की सोहबत में आप भी कुछ कवि हुए जा रहे हैं।'

गुरुप्रसाद ने नम्रता से कहा—'मैं कवि नहीं हूँ और न मुझे कवि होने का दावा है। आप लोग मुझे ज़बरदस्ती कवि बनाए देते हैं। कवि स्रष्टा की वह अद्भुत रचना है जो पंचभूतों की जगह नौ रसों से बनती है।'

मस्तराम—'आपका यही एक वाक्य है, जिसपर सैकड़ों कविताएँ न्योछावर हैं। सुनी आपने रसिकलालजी, कवि की महिमा। याद कर लीजिए, रट डालिए।'

रसिक—'कहाँ तक याद करें, भैया, यह तो सूक्तियों में बातें करते हैं। और नम्रता का यह हाल है कि अपने को कुछ समझते ही नहीं। महानता का यही लक्षण है। जिसने अपने को कुछ समझा, वह गया। (कम्पनी के स्वामी से) आप तो अब खुद ही सुनेंगे, इस ड्रामा में अपना हृदय निकालकर रख दिया है। कवियों में जो एक प्रकार का अल्हड़पन होता है, उसकी आपमें कहीं गन्ध भी नहीं। इस ड्रामे की सामग्री जमा करने के लिये आपने कुछ नहीं तो एक हज़ार बड़े-बड़े पोथों का अध्ययन किया होगा। वाजिदअली शाह को स्वार्थी इतिहास-लेखकों ने कितना कलंकित किया है, आप लोग जानते ही हैं। उस लेखराशि को छाँटकर उसमें से सत्य के तत्त्व को खोज निकालना आप ही का काम था!'

विनोद—'इसीलिये हम और आप दोनों कलकत्ते गए और

वहाँ कोई ६ महीने मटियाबुर्ज की खाक छानते रहे। वाजिद: अली शाह की हस्तलिखित एक पुस्तक की तलाश की। उसमें उन्होंने खुद अपनी जीवनचर्या लिखी है। एक बुढ़िया की पूजा की गई, तब कहीं जाके ६ महीने में किताब मिली।'

अमरनाथ—'पुस्तक नहीं रत्न है।'

मस्तराम—'उस वक्त तो उसकी दशा कोयले की थी, गुरुप्रसादजी ने उसपर मोहर लगाकर अशर्फी बना दिया। ड्रामा ऐसा चाहिए कि जो सुने दिल हाथों से थाम ले। एक-एक वाक्य दिल में चुभ जाय।'

अमरनाथ—'संसार-साहित्य के सभी नाटकों को आपने चाट डाला और नाट्य-रचना पर सैकड़ों किताबें पढ़ डालीं।'

विनोद—'जभी तो चीज भी लासानी हुई है।'

अमरनाथ—लाहौर ड्रामेटिक क्लब का मालिक हफ्ते भर यहाँ पड़ा रहा, पैरों पड़ा कि मुझे यह नाटक दे दीजिए; लेकिन आपने न दिया। जब ऐक्टर ही अच्छे नहीं, तो उनसे अपना ड्रामा खेलवाना उसकी मिट्टी खराब करना था। इस कम्पनी के ऐक्टर माशा अल्लाह अपना जवाब नहीं रखते और इसके नाटककार की सारे ज़माने में धूम है। आप लोगों के हाथों में पड़कर यह ड्रामा धूम मचा देगा।'

विनोद—'एक तो लेखक साहब खुद शैतान से ज्यादा मशहूर हैं, उसपर यहाँ के ऐक्टरों का नाट्य-कौशल! शहर लुट जायगा।'

मस्तराम—'रोज़ ही तो किसी-न-किसी कम्पनी का आदमी

सिर पर सवार रहता है; मगर वाबू साहब किसी से सीधे मुँह बात नहीं करते।'

विनोद—'बस एक यह कम्पनी है, जिसके तमाशों के लिये दिल बेकरार रहता है, नहीं तो और जितने ड्रामे खेले जाते हैं दो कौड़ी के। मैंने तमाशा देखना ही छोड़ दिया।'

गुरुप्रसाद—'नाटक लिखना बच्चों का खेल नहीं है, खूने जिगर पीना पड़ता है। मेरे ख़याल में एक नाटक लिखने के लिये पाँच साल का समय भी काफी नहीं। बल्कि अच्छा ड्रामा ज़िन्दगी में एक ही लिखा जा सकता है। यों कलम घिसना दूसरी बात है। वड़े-वड़े धुरन्धर आलोचकों का यही निर्णय है कि आदमी ज़िन्दगी में एक ही नाटक लिख सकता है। रूस, फ्राँस, जर्मनी सभी देशों के ड्रामे पढ़े; पर कोई-न-कोई दोष सभी में मौजूद। किसी में भाव है तो भाषा नहीं, भाषा है तो भाव नहीं। हास्य है तो गान नहीं, गान है तो हास्य नहीं, जब तक भाव, भाषा, हास्य और गान चारों अंग पूरे न हों, उसे ड्रामा कहना ही न चाहिए। मैं तो बहुत ही तुच्छ आदमी हूँ, कुछ आप लोगों की सोहबत में शुदबुद आ गया। मेरी रचना की हस्ती ही क्या। लेकिन ईश्वर ने चाहा, तो ऐसे दोष आपको न मिलेंगे।

विनोद—'जब आप उस विषय के मर्मज्ञ हैं, तो दोष रह ही कैसे सकते हैं।'

रसिक—'दस साल तक तो आपने केवल संगीत-कला का अभ्यास किया है। घर के हजारों रुपये उस्तादों को भेंट

कर दिए, फिर भी दोष रह जाय, तो दुर्भाग्य है।'

रिहर्सल—

रिहर्सल शुरू और वाह वाह ! हाय हाय ! का तार बँधा। कोरस सुनते ही ऐक्टर और प्रोप्राइटर और नाटककार सभी मानो जाग पड़े। भूमिका ने उन्हें विशेष प्रभावित न किया था; पर असली चीज़ सामने आते ही आँखें खुलीं। समाँ बँध गया। पहला सीन आया। आँखों के सामने वाजिद-अली शाह के दर्बार की तसवीर खिंच गई। दर्बारियों की हाज़िरजवाबी और फड़कते हुए लतीफ़े! वाह वाह! क्या कहना है। क्या वाक्य रचना थी, क्या शब्दयोजना थी, रसों का कितना सुरुचि से भरा हुआ समावेश था। तीसरा दृश्य हास्यमय था। हँसते-हँसते लोगों की पसलियाँ दुखने लगीं, स्थूलकाय स्वामी की संयत अविचलता भी आसन से डिग गई। चौथा सीन करुणाजनक था। हास्य के बाद करुणा, आँधी के बाद आनेवाली शान्ति थी। विनोद आँखों पर हाथ रक्खे, सिर झुकाए, जैसे रो रहे थे। मस्तराम बार-बार ठंडी आहें खींच रहे थे और अमरनाथ बार-बार सिसकियाँ भर रहे थे। इसी तरह सीन-पर-सीन और अंक-पर-अंक समाप्त होते गए, यहाँ तक कि जब रिहर्सल समाप्त हुआ, तो दीपक जल चुके थे।

सेठजी अब तक सोंठ बने बैठे थे। ड्रामा समाप्त हो गया; पर उनके मुखारविन्द पर उनके मनोविचार का लेशमात्र भी आभास न था। जड़ भरत की तरह बैठे हुए थे, न मुसकराहट

थी, न कुतूहल, न हर्ष, न कुछ। विनोदविहारी ने मुआमले की बात पूछी—'तो इस ड्रामा के बारे में श्रीमान् की क्या राय है?'

सेठजी ने उसी विरक्त भाव से उत्तर दिया—'मैं इसके विषय में कल निवेदन करूँगा। कल यहीं भोजन भी कीजिएगा। आप लोगों के लायक भोजन तो क्या होगा, उसे केवल विदुर का साग समझकर स्वीकार कीजिए।'

पंच पांडव बाहर निकले, तो मारे खुशी के सबकी बाछें खिली जाती थीं।

विनोद—'पाँच हज़ार की थैली है। नाक-कान बद सकता हूँ।'

अमरनाथ—'पाँच हज़ार है कि दस, यह तो नहीं कह सकता; पर रंग खूब जम गया।'

रसिक—'मेरा अनुमान तो चार हज़ार का है।'

मस्तराम—'और मेरा विश्वास है कि दस हज़ार से कम वह कहेगा ही नहीं। मैं तो सेठ के चेहरे की तरफ़ ध्यान से देख रहा था। आज ही कह देता; पर डरता था, कहीं ये लोग अस्वीकार न कर दें। उसके होंठों पर तो हँसी न थी; पर मगन हो रहा था।'

गुरुप्रसाद—'मैंने पढ़ा भी तो जी तोड़कर।'

विनोद—'ऐसा जान पड़ता था तुम्हारी वाणी पर सरस्वती बैठ गई हैं। सभों की आँखें खुल गईं।'

रसिक—'मुझे उसकी चुप्पी से ज़रा सन्देह होता है।'

अमर—'आपके सन्देह का क्या कहना। आप को तो ईश्वर पर भी सन्देह है।'

मस्त०—'ड्रामेटिस्ट भी बहुत खुश हो रहा था। दस-बारह हज़ार का वारा न्यारा है। भई, आज इस खुशी में एक दावत होनी चाहिए।'

गुरुप्रसाद—'अरे, तो कुछ बोहनी-बट्टा तो हो जाय।'

मस्त०—जी नहीं,तब तो जलसा होगा। आज दावत होगी।'

विनोद—भाग्य के बली हो तुम गुरुप्रसाद।'

रसिक—मेरी राय है, जरा उस ड्रामेटिस्ट को गाँठ लिया जाय। उसका मौन मुझे भयभीत कर रहा है।'

मस्त०—'आप तो वाही हुए हैं। वह नाक रगड़कर रह जाय, तब भी यह सौदा होकर रहेगा। सेठजी अब बचकर निकल नहीं सकते।'

विनोद—'हम लोगों की भूमिका भी तो ज़ोरदार थी।'

अमर—'उसी ने तो रंग जमा दिया। अब कोई छोटी रकम कहने का उसे साहस न होगा।'

अभिनय—

रात को गुरुप्रसाद के घर मित्रों की दावत हुई। दूसरे दिन कोई ६ बजे पाँचो आदमी सेठजी के पास जा पहुँचे। सन्ध्या का समय हवाख़ोरी का है। आज मोटर पर न आने के लिये बना बनाया बहाना था। सेठजी आज बेहद खुश नज़र आते थे। कल की वह मुहर्रमी सूरत अन्तर्धान हो गई थी। बात-बात पर चहकते थे, हँसते थे, फ़िक़रः कसते थे, जैसे लखनऊ के

कोई रईस हों। दावत का सामान तैयार था। मेजों पर भोजन चुना जाने लगा। अंगूर, सन्तरे, केले, सूखे मेवे, कई किसम की मिठाइयाँ, कई तरह के मुरब्बे, शराब आदि सजा दिए गए और यारों ने खूब मज़े से दावत खाई। सेठजी मेहमान नेवाज़ी के पुतले बने हुए हरेक मेहमान के पास आ-आकर पूछते—कुछ और मँगवाऊँ? कुछ तो और लीजिए। आप लोगों के लायक भोजन यहाँ कहाँ बन सकता है।

भोजन के उपरान्त लोग बैठे, तो मुआमले की बातचीत होने लगी। गुरुप्रसाद का हृदय आशा और भय से काँपने लगा।

सेठजी—'हुज़ूर ने बहुत ही सुन्दर नाटक लिखा है। क्या बात है!'

ड्रामेटिस्ट—'यहाँ जनता अच्छे ड्रामों की कद्र नहीं करती, नहीं तो यह ड्रामा लाजवाब होता।'

सेठजी—'जनता कद्र नहीं करती न करे, हमें जनता की बिलकुल परवाह नहीं है, रत्ती बराबर परवाह नहीं है। मैं तो इसकी तैयारी में ५० हज़ार केवल बाबू साहब की खातिर से खर्च कर दूँगा। आपने इतनी मेहनत से एक चीज़ लिखी है, तो मैं उसका प्रचार भी उतने ही हौसले से करूँगा। हमारे साहित्य के लिये क्या यह कुछ कम सौभाग्य की बात है कि आप-जैसे महान पुरुष इस क्षेत्र में आ गए। यह कीर्ति हुज़ूर को अमर बना देगी।'

ड्रामेटिस्ट—'मैंने तो ऐसा ड्रामा आज तक नहीं देखा।

लिखता मैं भी हूँ, और लोग भी लिखते हैं। लेकिन आपकी उड़ान को कोई क्या पहुँचेगा! कहीं-कहीं तो आपने शेक्सपियर को भी मात कर दिया है।'

सेठजी—'तो जनाब, जो चीज दिल की उमंग से लिखी जाती है, वह ऐसी ही अद्वितीय होती है। शेक्सपियर ने जो कुछ लिखा, रुपये के लोभ से लिखा। हमारे दूसरे नाटककार भी धन ही के लिये लिखते हैं। उनमें यह बात कहाँ पैदा हो सकती है, जो निःस्वार्थ भाव से लिखनेवालों में पैदा हो सकती है। गोसाईंजी की रामायण क्यों अमर है? इसीलिये कि वह भक्ति और प्रेम से प्रेरित होकर लिखी गई है। सादी की गुलिस्ताँ और बोस्ताँ, होमर की रचनाएँ, इसीलिये स्थायी हैं कि उन कवियों ने दिल की उमंग से लिखा। जो उमंग से लिखता है, वह एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य, एक-एक उक्ति पर महीनों खर्च कर देता है। धनेच्छु को तो एक काम जल्दी से समाप्त करके दूसरा काम शुरू करने की फ़िक्र होती है।

ड्रामेटीस्ट—'आप बिलकुल सत्य कह रहे हैं। हमारे साहित्य की अवनति केवल इसलिये हो रही है कि हम सब धन के लिये, या नाम के लिये लिखते हैं।'

सेठजी—'सोचिए, आपने दस साल केवल संगीत-कला के लिये खर्च कर दिए। लाखों रुपये कलावन्तों और गायकों को दे डाले होंगे। कहाँ-कहाँ से और कितने परिश्रम और खोज से इस नाटक की सामग्री एकत्र की। न जाने कितने राजों-

महाराजों को सुनाया। इस परिश्रम और लगन का पुरस्कार कौन दे सकता है।'

ड्रामेटिस्ट—'मुमकिन ही नहीं। ऐसी रचनाओं के पुरस्कार की कल्पना करना ही उनका अनादर करना है। इनका पुरस्कार यदि कुछ है, तो वह अपनी आत्मा का सन्तोष है, और वह सन्तोष आपके एक-एक शब्द से प्रकट होता है।'

सेठजी—'आपने बिलकुल सत्य कहा कि ऐसी रचनाओं का पुरस्कार अपनी आत्मा का सन्तोष है। यश तो बहुधा ऐसी रचनाओं को मिल जाता है, जो साहित्य के लिये कलंक हैं। आपसे ड्रामा ले लीजिए और आज ही पार्ट भी तकसीम कर दीजिए। तीन महीने के अन्दर इसे खेल डालना होगा।'

मेज़ पर ड्रामे की हस्तलिपि पड़ी हुई थी। ड्रामेटिस्ट ने उसे उठा लिया। गुरुप्रसाद ने दीन नेत्रों से विनोद की ओर देखा, विनोद ने अमर की ओर, अमर ने रसिक की ओर; पर शब्द किसी के मुँह से न निकला। सेठजी ने मानो सभी के मुँह सी दिए हों। ड्रामेटिस्ट साहब किताब लेकर चल दिए।

सेठजी ने मुसकराकर कहा—'हजूर को थोड़ी-सी तकलीफ़ और करनी होगी। ड्रामा का रिहर्सल शुरू हो जायगा, तो आपको थोड़े दिनों कम्पनी के साथ रहने का कष्ट उठाना पड़ेगा। हमारे एक्टर अधिकांश गुजराती हैं। वे हिन्दी भाषा के शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते। कहीं-कहीं शब्दों पर अनावश्यक ज़ोर दे देते हैं। आपकी

निगरानी से ये सारी बुराइयाँ दूर हो जायँगी। एक्टरों ने यदि पार्ट अच्छा न किया, तो आपके सारे परिश्रम पर पानी पड़ जायगा।'—यह कहते हुए उसने लड़के को आवाज़ दी—'बोय! आप लोगों के लिये सिगार लाओ।'

सिगार आ गया। सेठजी उठ खड़े हुए। यह मित्र-मण्डली के लिये बिदाई की सूचना थी। पाँचो सज्जन भी उठे। सेठजी आगे-आगे द्वार तक आए। फिर सबसे हाथ मिलाते हुए कहा—'आज इस गरीब कम्पनी का तमाशा देख लीजिए। फिर यह संयोग न जाने कब प्राप्त हो।'

गुरुप्रसाद ने मानो किसी कब्र के नीचे से कहा—'हो सका, तो आजाऊँगा।' सड़क पर आकर पाँचो मित्र खड़े होकर एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। तब पाँचों ही ज़ोर से कहकहा मार कर हँस पड़े।

विनोद ने कहा—'यह हम सबका गुरुघंटाल निकला।'

अमर—'साफ़ आँखों में धूल झोंक दी।'

रसिक—'मैं उसकी चुप्पी देखकर पहले ही से डर रहा था कि यह कोई पल्ले सिरे का घाघ है।'

मस्त०—'मान गया इसकी खोपड़ी को। यह चपत उम्र भर न भूलेगी।'

गुरुप्रसाद इस आलोचना में शरीक न हुए। वह इस तरह सिर झुकाए चले जा रहे थे, मानो अभी तक वह स्थिति को समझ ही न पाए हों।

अभ्यास

१—डिमांस्ट्रेशन से क्या तात्पर्य समझते हो ?

२—गुरुप्रसाद और कम्पनी के मालिक के चरित्रों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करो।

३—निम्नलिखित अवतरणों का भाव स्पष्ट करो—

'कवि का हृदय कोमल भावों का स्रोत है। मधुर संगीत का भंडार है, अनंत का आईना है।'

'जब तक भाव, भाषा, हास्य और गान चारो अंग न पूरे हों उसे ड्रामा कहना ही नहीं चाहिए।

४—शेक्सपियर, होमर, तुलसीदास और शेखसादी की रचनाओं और कविता के बारे में जो कुछ जानते हो लिखो।

५—इनका तात्पर्य भली भाँति समझाओ—

भेख से भीख मिलती है, पूरे 'सतजुगी आदमी हैं, सेठजी अब तक सोंठ बने बैठे थे, सबकी बाछें खिली जाती थीं, नाक-कान बद सकता हूँ।

६—निम्नलिखित मुहावरों का भाव स्पष्ट करो और इन्हें अपने वाक्यों में प्रयुक्त करो—

रद्दा जमाना, रंग जमाना, दरवाजे पर हाथी झूमना, दिल हाथों से थाम लेना, नाक रगड़कर रह जाना।

७—'जड़ भरत' कौन थे ?

मन्त्र

[१]

पंडित लीलाधर चौबे की ज़बान में जादू था। जिस वक्त वह मंच पर खड़े होकर अपनी वाणी की सुधावृष्टि करने लगते थे, श्रोताओं की आत्माएँ तृप्त हो जाती थीं, लोगों पर अनुराग का नशा छा जाता था। चौबेजी के व्याख्यानों में तत्त्व तो बहुत कम होता था, शब्दयोजना भी बहुत सुन्दर न होती थी, लेकिन उनकी शैली इतनी आकर्षक, रंजक और मर्मस्पर्शी थी कि एक ही व्याख्यान को बार बार दुहराने पर भी उसका असर कम न होता, बल्कि घन की चोटों की भाँति और भी प्रभावोत्पादक हो जाता था। विश्वास तो नहीं आता, किन्तु सुननेवाले कहते हैं, उन्होंने केवल एक व्याख्यान रट रक्खा है, और उसी को वह शब्दशः प्रत्येक सभा में एक नये अन्दाज से दुहराया करते हैं। जातीय गौरव-गान उनके व्याख्यानों का प्रधान गुण था; मंच पर आते ही भारत के प्राचीन गौरव और पूर्वजों की अमर-कीर्ति का राग छेड़कर सभा को मुग्ध कर देते थे। यथा—

सज्जनो! हमारी अधोगति की कथा सुनकर किसकी आँखों से अश्रुधारा न निकल पड़ेगी? हमें अपने प्राचीन गौरव को याद करके संदेह होने लगता है कि हम वही हैं, या बदल गए। जिसने कल सिंह से पंजा लिया, वह आज चूहे को

देखकर बिल खोज रहा है ! इस पतन की भी कोई सीमा है। दूर क्यों जाइए, महाराज चन्द्रगुप्त के समय को ही ले लीजिए। यूनान का सुविज्ञ इतिहासकार लिखता है कि उस ज़माने में यहाँ द्वार पर ताले न डाले जाते थे; चोरी कहीं सुनने में न आती थी, व्यभिचार का नाम-निशान न था, दस्तावेज़ों का आविष्कार ही न हुआ था, पुर्जों पर लाखों का लेन-देन हो जाता था, न्याय-पद पर बैठे हुए कर्मचारी मक्खियाँ मारा करते थे। सज्जनो, उन दिनों कोई आदमी जवान न मरता था (तालियाँ)। हाँ, उन दिनों कोई आदमी जवान न मरता था, बाप के सामने बेटे का अवसान हो जाना एक अश्रुतपूर्व—एक असम्भव घटना—थी। आज ऐसे कितने माता-पिता हैं, जिनके कलेजे पर जवान बेटों का दाग़ न हो ? वह भारत नहीं रहा, भारत ग़ारत हो गया !

यही चौबेजी की शैली थी। वह वर्तमान की अधोगति और दुर्दशा तथा भूत की समृद्धि और सुदशा का राग अलाप कर लोगों में जातीय स्वाभिमान को जाग्रत कर देते थे। इसी सिद्धि की बदौलत उनकी नेताओं में गणना होती थी। विशेषतः हिन्दू-सभा के तो वह कर्णधार समझे जाते थे। हिन्दू-सभा के उपासकों में कोई ऐसा उत्साही, ऐसा दक्ष, ऐसा नीति-चतुर दूसरा न था। यों कहिए कि सभा के लिये उन्होंने अपना जीवन ही उत्सर्ग कर दिया था। धन तो उनके पास न था, कम-से-कम लोगों का विचार यही था, लेकिन साहस, धैर्य और बुद्धि-जैसे अमूल्य रत्न उनके पास अवश्य

थे; और ये सभी सभा को अर्पण थे। 'शुद्धि' के तो मानो वह प्राण ही थे। हिन्दू-जाति का उत्थान और पतन, जीवन और मरण उनके विचार में इसी प्रश्न पर अवलम्बित था। शुद्धि के सिवा अब हिन्दू-जाति के पुनर्जीवन का और कोई उपाय न था। जाति की समस्त नैतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक बीमारियों की दवा इसी आन्दोलन की सफलता में मर्यादित थी, और वह तन-मन से इसका उद्योग किया करते थे। चन्दे वसूल करने में चौबेजी सिद्धहस्त थे। ईश्वर ने उन्हें वह 'गुर' बता दिया था कि पत्थर से भी तेल निकाल सकते थे। कंजूसों को तो वह ऐसा उलटे छुरे से मूड़ते थे कि उन महाशयों को सदा के लिये शिक्षा मिल जाती थी। इस विषय में पंडितजी साम, दाम, दंड और भेद, चारों नीतियों से काम लेते थे, यहाँ तक कि राष्ट्र-हित के लिये डाका और चोरी को भी क्षम्य समझते थे।

[२]

गरमी के दिन थे। लीलाधरजी किसी शीतल पार्वत्य-प्रदेश को जाने की तैयारियाँ कर रहे थे कि सैर-की-सैर हो जायगी, और बन पड़ा, तो कुछ चन्दा भी वसूल कर लावेंगे। उनको जब भ्रमण की इच्छा होती, तो मित्रों के साथ एक डेपुटेशन के रूप में निकल खड़े होते। अगर एक हज़ार रुपये वसूल करके वह इसका आधा सैर-सपाटे में खर्च भी कर दें, तो किसी की क्या हानि? हिन्दू-सभा को तो कुछ न-कुछ मिल ही जाता था। वह उद्योग न करते, तो इतना भी

तो न मिलता ! पंडितजी ने अबकी सपरिवार जाने का निश्चय किया था। जब से 'शुद्धि' का आविर्भाव हुआ था, उनकी आर्थिक दशा, जो पहले बहुत शोचनीय रहती थी, बहुत कुछ सँभल गई थी।

लेकिन जाति के उपासकों का ऐसा सौभाग्य कहाँ कि शान्ति-निवास का आनन्द उठा सकें! उनका तो जन्म ही मारे-मारे फिरने के लिये होता है। खबर आई कि मदरास-प्रान्त में तबलीग़वालों ने तूफ़ान मचा रक्खा है। हिन्दुओं के गाँव-के-गाँव मुसलमान होते जाते हैं। मुल्लाओं ने बड़े जोश से तबलीग़ का काम शुरू किया है। अगर हिन्दू-सभा ने इस प्रवाह को रोकने की आयोजना न की, तो सारा प्रान्त हिन्दुओं से शून्य हो जायगा—किसी शिखाधारी की सूरत न नज़र आवेगी।

हिन्दू-सभा में खलबली मच गई। तुरन्त एक विशेष अधिवेशन हुआ और नेताओं के सामने यह समस्या उपस्थित की गई। बहुत सोच-विचार के बाद निश्चय हुआ कि चौबेजी पर इस कार्य का भार रक्खा जाय। उनसे प्रार्थना की जाय कि, वह तुरन्त मदरास चले जायँ, और धर्म-विमुख बन्धुओं का उद्धार करें। कहने ही की देर थी। चौबेजी तो हिन्दू जाति की सेवा के लिये अपने को अर्पण ही कर चुके थे; पर्वत-यात्रा का विचार रोक दिया, और मदरास जाने को तैयार हो गए। हिन्दू-सभा के मन्त्री ने आँखों में आँसू भरकर उनसे विनय की कि महाराज, यह बीड़ा आप ही उठा सकते हैं। आप ही

को परमात्मा ने इतनी सामर्थ्य दी है। आपके सिवा ऐसा कोई दूसरा मनुष्य भारतवर्ष में नहीं है, जो इस घोर विपत्ति में काम आवे। जाति की दीन-हीन दशा पर दया कीजिए। चौबेजी इस प्रार्थना को अस्वीकार न कर सके। फ़ौरन् सेवकों की एक मंडली बनी, और पंडितजी के नेतृत्व में रवाना हुई। हिन्दू-सभा ने उसे बड़ी धूम से बिदाई का भोज दिया। एक उदार रईस ने चौबेजी को एक थैली भेंट की और रेल-स्टेशन पर हज़ारों आदमी उन्हें बिदा करने आए।

यात्रा का वृत्तान्त लिखने की ज़रूरत नहीं। हर एक बड़े स्टेशन पर सेवकों का सम्मान-पूर्ण स्वागत हुआ। कई जगह थैलियाँ मिलीं। रतलाम की रियासत ने एक शामियाना भेंट किया। बड़ोदा ने एक मोटर दी कि सेवकों को पैदल चलने का कष्ट न उठाना पड़े, यहाँ तक कि मदरास पहुँचते-पहुँचते सेवा-दल के पास एक माकूल रक़म के अतिरिक्त ज़रूरत की कितनी ही चीज़ें जमा हो गईं। वहाँ आबादी से दूर, एक खुले मैदान में हिन्दू-सभा का पड़ाव पड़ा। शामियाने पर राष्ट्रीय झंडा लहराने लगा। सेवकों ने अपनी-अपनी वर्दियाँ निकालीं, स्थानीय धनकुबेरों ने दावत के सामान भेजे, रावटियाँ पड़ गईं। चारों ओर ऐसी चहल-पहल हो गई, मानो किसी राजा का कैम्प है।

[३]

रात के आठ बजे थे। अछूतों की एक बस्ती के समीप, सेवक-दल का कैम्प गैस के प्रकाश से जगमगा रहा था।

कई हज़ार आदमियों का जमाव था, जिनमें अधिकांश अछूत ही थे। उनके लिये अलग टाट बिछा दिए गए थे। ऊँचे वर्ण के हिन्दू क़ालीनों पर बैठे हुए थे। पंडित लीलाधर का धुआँधार व्याख्यान हो रहा था—"तुम उन्हीं ऋषियों की सन्तान हो, जो आकाश के नीचे एक नयी सृष्टि की रचना कर सकते थे, जिनके न्याय, बुद्धि और विचार-शक्ति के सामने आज सारा संसार सिर झुका रहा है—"

सहसा एक बूढ़े अछूत ने उठकर पूछा—हम लोग भी उन्हीं ऋषियों की सन्तान हैं?

लीलाधर—निस्सन्देह। तुम्हारी धमनियों में भी उन्हीं ऋषियों का रक्त दौड़ रहा है और, यद्यपि आज का निर्दयी, कठोर, विचार-हीन, संकुचित हिन्दू-समाज तुम्हें अवहेला की दृष्टि से देख रहा है, तथापि तुम किसी हिन्दू से नीच नहीं हो, चाहे वह अपने को कितना ही ऊँचा समझता हो।

बूढ़ा—तुम्हारी सभा हम लोगों की सुध क्यों नहीं लेती?

लीलाधर—हिन्दू-सभा का जन्म अभी थोड़े ही दिन हुए हुआ है, और इस अल्पकाल में उसने जितने काम किए हैं, उनपर उसे अभिमान हो सकता है। हिन्दू-जाति शताब्दियों के बाद गहरी नींद से चौंकी है, और अब वह समय निकट है, जब भारतवर्ष में कोई हिन्दू किसी हिन्दू को नीच न समझेगा, जब सब एक दूसरे को भाई समझेंगे। श्रीरामचन्द्र ने निषाद को छाती से लगाया था, शबरी के जूठे बेर खाए थे..........

बूढ़ा—आप जब इन्हीं महात्माओं की सन्तान हैं, तो फिर ऊँच-नीच में क्यों इतना भेद मानते हैं?

लीलाधर—इसलिये कि हम पतित हो गए हैं—अज्ञान में पड़कर उन महात्माओं को भूल गए हैं।

बूढ़ा—अब तो आपकी निद्रा टूटी है, हमारे साथ भोजन करोगे?

लीलाधर—मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

बूढ़ा—मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजिएगा?

लीलाधर—जब तक तुम्हारे जन्म-संस्कार न बदल जायँ, जब तक तुम्हारे आहार-व्यवहार में परिवर्तन न हो जाय, हम तुमसे विवाह का सम्बन्ध नहीं कर सकते। माँस खाना छोड़ो, मदिरा पीना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम उच्च-वर्ण के हिन्दुओं में मिल सकते हो।

बूढ़ा—हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं, जो रातदिन नशे में डूबे रहते हैं, माँस के बिना कौर नहीं उठाते; और कितने ही ऐसे हैं जो एक अक्षर भी नहीं पढ़े हैं, पर आपको उनके साथ भोजन करते देखता हूँ। उनसे विवाह-सम्बन्ध करने में आपको कदाचित् इनकार न होगा। जब आप खुद अज्ञान में पड़े हुए हैं, तो हमारा उद्धार कैसे कर सकते हैं? आपका हृदय अभी तक अभिमान से भरा हुआ है। जाइए, अभी कुछ दिन और अपनी आत्मा का सुधार कीजिए। हमारा उद्धार आपके किए न होगा। हिन्दू-समाज में रहकर हमारे माथे से नीचता का कलंक न

मिटेगा। हम कितने ही विद्वान्, कितने ही आचारवान् हो जायँ, आप हमें यों ही नीच समझते रहेंगे। हिन्दुओं की आत्मा मर गई है, और उसका स्थान अहंकार ने ले लिया है। हम अब उस देवता की शरण जा रहे हैं, जिसके माननेवाले हमसे गले मिलने को आज ही तैयार हैं। वे यह नहीं कहते कि तुम अपने संस्कार बदलकर आओ। हम अच्छे हैं या बुरे, वे इसी दशा में हमें अपने पास बुला रहे हैं। आप अगर ऊँचे हैं, तो ऊँचे बने रहिए। हमें उड़ना नहीं आता। हम उन लोगों के साथ रहेंगे, जिनके साथ हमें उड़ना न पड़ेगा।

लीलाधर—एक ऋषि-सन्तान के मुँह से ऐसी बात सुनकर मुझे आश्चर्य हो रहा है। वर्ण-भेद तो ऋषियों ही का किया हुआ है। उसे तुम कैसे मिटा सकते हो?

बूढ़ा—ऋषियों को मत बदनाम कीजिए। यह सब पाखंड आप लोगों का रचा हुआ है। आप कहते हैं, तुम मदिरा पीते हो; लेकिन आप मदिरा पीनेवालों की जूतियाँ चाटते हैं। आप हमसे माँस खाने के कारण घिनाते हैं, लेकिन आप गो-माँस खानेवालों के सामने नाक रगड़ते हैं। इसीलिये न कि वे आपसे बलवान् हैं? हम भी आज राजा हो जायँ, तो आप हमारे सामने हाथ बाँधे खड़े होंगे। आपके धर्म में वही ऊँचा है, जो बलवान् है, वही नीच है, जो निर्बल है। यही आपका धर्म है?

यह कहकर बूढ़ा वहाँ से चला गया, और उसके साथ

ही और लोग भी उठ खड़े हुए। केवल चौबेजी और उनके दलवाले मंच पर रह गए, मानो गान समाप्त हो जाने के बाद उसकी प्रतिध्वनि वायु में गूँज रही हो।

[४]

तबलीग़वालों ने जब से चौबेजी के आने की ख़बर सुनी थी, इस फ़िक्र में थे कि किसी उपाय से इन सबको यहाँ से दूर करना चाहिए। चौबेजी का नाम दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। जानते थे, यह यहाँ जम गया, तो हमारी सारी की-कराई मिहनत व्यर्थ हो जायगी। इसके क़दम यहाँ जमने न पावें। मुल्लाओं ने उपाय सोचना शुरू किया। बहुत वादविवाद, हुज्जत और दलील के बाद निश्चय हुआ कि इस काफ़िर को क़त्ल कर दिया जाय। ऐसा सवाब लूटने के लिये आदमियो की क्या कमी? उसके लिये तो जन्नत का दरवाज़ा खुल जायगा, हूरें उसकी बलाएँ लेंगी, फ़रिश्ते क़दमों की खाक का सुरमा बनाएँगे, रसूल उसके सर बरकत का हाथ रक्खेंगे, खुदावन्द क़रीम उसे सीने लगाएँगे और कहेंगे—तू मेरा प्यारा दोस्त है। दो हट्टे-कट्टे जवानों ने तुरन्त बीड़ा उठा लिया।

रात के दस बज गए थे। हिन्दू-सभा के कैम्प में सन्नाटा था। केवल चौबेजी अपनी रावटी में बैठे हिन्दू-सभा के मन्त्री को पत्र लिख रहे थे—यहाँ सबसे बड़ी आवश्यकता धन की है। रुपया, रुपया, रुपया! जितना भेज सकें, भेजिए। डेपुटेशन भेजकर वसूल कीजिए, मोटे महाजनों की जेब टटोलिए, भिक्षा माँगिए। बिना धन के इन अभागों का उद्धार

न होगा।। जब तक कोई पाठशाला न खुले, कोई चिकित्सालय स्थापित न हो, कोई वाचनालय न हो, इन्हें कैसे विश्वास आवेगा कि हिन्दू-सभा उनकी हितचिन्तक है। तबलीग़वाले जितना खर्च कर रहे हैं, उसका आधा भी मुझे मिल जाय, तो हिन्दू-धर्म की पताका फहराने लगे। केवल व्याख्यानों से काम न चलेगा। असीसों से कोई जिन्दा नहीं रहता।

सहसा किसी की आहट पाकर वह चौंक पड़े। आँखें ऊपर उठाईं तो देखा, दो आदमी सामने खड़े हैं। पंडितजी ने शंकित होकर पूछा—तुम कौन हो, क्या काम है?

उत्तर मिला—हम इज़राईल के फ़रिश्ते हैं। तुम्हारी रूह क़ब्ज करने आए हैं। हज़रत इज़राईल ने तुम्हें याद किया है।

पंडितजी यों बहुत ही बलिष्ठ पुरुष थे, उन दोनों को एक धक्के में गिरा सकते थे। प्रातःकाल तीन पाव मोहनभोग और दो सेर दूध का नाश्ता करते थे। दोपहर के समय पाव भर घी दाल में खाते, तीसरे पहर दूधिया भंग छानते, जिसमें सेर भर मलाई और आध सेर बादाम मिला रहता। रात को डटकर ब्यालू करते; क्योंकि प्रातःकाल तक फिर कुछ न खाते थे। इसपर तुर्रा यह कि पैदल पग भर भी न चलते थे। पालकी मिले, तो पूछना ही क्या, जैसे घर का पलँग उड़ा जा रहा हो। कुछ न हो तो इक्का तो था ही; यद्यपि काशी में दो ही चार इक्केवाले ऐसे थे, जो उन्हें देखकर कह न दें कि "इक्का खाली नहीं है।" ऐसा मनुष्य नर्म

अखाड़े में पट पड़कर ऊपरवाले पहलवान को थका सकता था, चुस्ती और फुर्ती के अवसर पर तो वह रेत पर निकला हुआ कछुआ था।

पंडितजी ने एक बार कनखियों से दरवाज़े की तरफ़ देखा। भागने का कोई मौक़ा न था। तब उनमें साहस का संचार हुआ। भय की पराकाष्ठा ही साहस है। अपने सोंटे की तरफ़ हाथ बढ़ाया, और गरज कर बोले—निकल जाओ यहाँ से...... ।

बात मुँह से पूरी न निकली थी कि लाठियों का वार पड़ा। पंडितजी मूर्च्छित होकर गिर पड़े। शत्रुओं ने समीप आकर देखा, जीवन का कोई लक्षण न था। समझ गए, काम तमाम हो गया! लूटने का तो विचार न था, पर जब कोई पूछनेवाला न हो, तो हाथ बढ़ाने में क्या हर्ज? जो कुछ हाथ लगा, ले-देकर चलते हुए।

[५]

प्रातःकाल बूढ़ा भी उधर से निकला, तो सन्नाटा छाया हुआ था — न आदमी न आदमज़ाद, छोलदारियाँ भी ग़ायब! चकराया, यह माजरा क्या है। रात ही भर में अलादीन के महल की तरह सब कुछ गायब हो गया। उन महात्माओं में से एक भी नज़र नहीं आता, जो प्रातःकाल मोहनभोग उड़ाते और सन्ध्या समय भंग घोटते दिखाई देते थे। ज़रा और समीप जाकर पंडित लीलाधर की रावटी में झाँका, तो कलेजा सन्न हो गया। पंडितजी जमीन पर मुर्दे की तरह

पड़े हुए थे। मुँह पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। सिर के बालों में रक्त ऐसा जम गया था, जैसे किसी चित्रकार के ब्रश में रंग। सारे कपड़े लहूलुहान हो रहे थे। समझ गया, पंडितजी के साथियों ने उन्हें मारकर अपनी राह ली। सहसा पंडितजी के मुँह से कराहने की आवाज़ निकली। अभी जान बाक़ी थी। बूढ़ा तुरन्त दौड़ा हुआ गाँव में गया, और कई आदमियों को लाकर पंडितजी को अपने घर उठवा ले गया।

मरहम-पट्टी होने लगी। बूढ़ा दिन-के-दिन और रात-की-रात पंडितजी के पास बैठा रहता। उसके घरवाले उनकी सुश्रूषा में लगे रहते। गाँववाले भी यथाशक्ति सहायता करते। इस बेचारे का यहाँ कौन अपना बैठा हुआ है? अपने हैं तो हम, बेगाने हैं तो हम। हमारे ही उद्धार के लिये तो बेचारा यहाँ आया था, नहीं तो यहाँ उसे क्या लेना था? कई बार पंडितजी अपने घर पर बीमार पड़ चुके थे। पर उनके घरवालों ने इतनी तन्मयता से कभी उनकी तीमारदारी न की थी। सारा घर, और घर ही नहीं, सारा गाँव उनका गुलाम बना हुआ था। अतिथि-सेवा उनके धर्म का एक अंग थी। सभ्य स्वार्थ ने अभी उस भाव का गला नहीं घोंटा था। साँप का मन्त्र जाननेवाला देहाती अब भी माघ-पूस की अँधेरी मेघाच्छन्न रात्रि में मन्त्र झाड़ने के लिये दस-पाँच कोस पैदल दौड़ता हुआ चला जाता है। उसे डबल फ़ीस और सवारी की ज़रूरत नहीं होती। बूढ़ा मल-मूत्र तक अपने हाथों उठा-

कर फेकता, पंडितजी की घुड़कियाँ सुनता, सारे गाँव से दूध माँगकर उन्हें पिलाता; पर उसकी त्योरियाँ कभी मैली न होतीं। अगर उसके कहीं चले जाने पर घरवाले लापरवाही करते, तो आकर सबको डाँटता।

महीने भर के बाद पंडितजी चलने-फिरने लगे, और अब उन्हें ज्ञात हुआ कि इन लोगों ने मेरे साथ कितना उपकार किया है। इन्हीं लोगों का काम था कि मुझे मौत के मुँह से निकाला, नहीं तो मरने में क्या कसर रह गई थी ? उन्हें अनुभव हुआ कि मैं जिन लोगों को नीच समझता था, और जिनके उद्धार का बीड़ा उठाकर आया था, वे मुझसे कहीं ऊँचे हैं। इस परिस्थिति में मैं कदाचित् रोगी को किसी अस्पताल भेजकर ही अपनी कर्तव्यनिष्ठा पर गर्व करता; समझता, मैंने दधीचि और हरिश्चन्द्र का मुख उज्ज्वल कर दिया। उनके रोएँ-रोएँ से इन देव-तुल्य प्राणियों के प्रति आशीर्वाद निकलने लगा।

[६]

तीन महीने गुज़र गए। न तो हिन्दू-सभा ने पंडितजी की ख़बर ली, और न घरवालों ने। सभा के मुखपत्र में उनकी मृत्यु पर आँसू बहाए गए, उनके कामों की प्रशंसा की गई, और उनका स्मारक बनाने के लिये चन्दा खोल दिया गया। घरवाले भी रो-पीटकर बैठ रहे।

उधर पंडितजी दूध और घी खाकर चौक-चौबन्द हो गए। चेहरे पर खून की सुर्खी दौड़ गई, देह भर आई। देहात की

जलवायु ने,,वह काम कर दिखाया, जो कभी मलाई और मक्खन से न हुआ था। पहले की तरह तैयार तो वह न हुए, पर फुर्ती और चुस्ती दुगनी हो गई। मोटाई का आलस्य अब नाम को भी न था। उनमें एक नये जीवन का संचार हो गया।

जाड़ा शुरू हो गया था। पंडित जी घर लौटने की तैयारियाँ कर रहे थे। इतने में प्लेग का आक्रमण हुआ, और गाँव के तीन आदमी बीमार हो गए। बूढ़ा चौधरी भी उन्हीं में था। घरवाले इन रोगियों को छोड़कर भाग खड़े हुए। वहाँ का दस्तूर था कि जिन बीमारियों को वे लोग दैवी कोप समझते थे उनके रोगियों को छोड़कर चले जाते थे। उन्हें बचाना देवताओं से वैर लेना था, और देवताओं से वैर करके कहाँ जाते? जिस प्राणी को देवताओं ने चुन लिया, उसे भला वे उसके हाथों से छीनने का साहस कैसे करते? पंडितजी को भी लोगों ने साथ ले जाना चाहा। पंडितजी न गए। उन्होंने गाँव में रहकर रोगियों की रक्षा करने का निश्चय किया। जिस प्राणी ने उन्हें मौत के पंजे से छुड़ाया था, उसे इस दशा में छोड़कर वह कैसे जाते? उपकार ने उनकी आत्मा को जगा दिया था। बूढ़े चौधरी ने तीसरे दिन होश आने पर जब उन्हें अपने पास खड़े देखा, तो बोला—महाराज, तुम यहाँ क्यों आ गए? मेरे लिये देवताओं का हुक्म आ गया है। अब मैं किसी तरह नहीं रुक सकता। तुम क्यों अपनी जान जोखिम में डालते हो? मुझपर दया करो, चले जाओ।

लेकिन पंडितजी पर कोई असर न हुआ। वह बारी-बारी से तीनों रोगियों के पास जाते, और कभी उनकी गिल्टियाँ सेंकते, कभी उनको पुराणों की कथाएँ सुनाते। घरों में नाज, बरतन आदि सब ज्यों-के-त्यों रक्खे हुए थे। पंडितजी पथ्य बना-बनाकर रोगियों को खिलाते। रात को जब रोगी भी सो जाते, और सारा गाँव भायँ-भायँ करने लगता, तो पंडितजी को भाँति-भाँति के भयंकर जन्तु दिखाई देते। उनके कलेजे में धड़क होने लगती। लेकिन वहाँ से टलने का नाम न लेते। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि या तो इन लोगों को बचा ही लूँगा, या इनपर अपने को बलिदान ही कर दूँगा।

जब तीन दिन सेंक-बाँध करने पर भी रोगियों की हालत न सँभली, तो पंडितजी को बड़ी चिन्ता हुई। शहर वहाँ से २० मील पर था। रेल का कहीं पता नहीं, रास्ता बीहड़ और साथी कोई नहीं। इधर यह भय कि अकेले रोगियों की न जाने क्या दशा हो। बेचारे बड़े संकट में पड़े। अन्त को चौथे दिन, पहर रात रहे, वह अकेले ही शहर को चल दिए, और दस बजते-बजते वहाँ जा पहुँचे। अस्पताल में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। गँवारों से अस्पताल वाले दवाओं का मनमाना दाम वसूल किया करते थे। पंडितजी को मुफ्त क्यों देने लगे? डाक्टर के मुंशी ने कहा—दवा तैयार नहीं है।

पंडितजी ने गिडगिड़ाकर कहा—सरकार, बड़ी दूर से

आया हूँ। कई आदमी बीमार पड़े हैं। दवा न मिलेगी, तो सब मर जायँगे।

मुंशी ने बिगड़कर कहा—क्यों सिर खाए जाते हो? कह तो दिया, दवा तैयार नहीं है, और न इतनी जल्द तैयार हो सकती है।

पंडितजी अत्यन्त दीन भाव से बोले—सरकार, ब्राह्मण हूँ, आपके बाल-बच्चों को भगवान् चिरंजीवी करें, दया कीजिए। आपका अक़बाल चमकता रहे।

रिश्वती कर्मचारियों में दया कहाँ! वे तो रुपये के गुलाम हैं। ज्यों-ज्यों पंडितजी उसकी खुशामद करते थे, वह और भी झल्लाता था। अपने जीवन में पंडितजी ने कभी इतनी दीनता न प्रगट की थी। उनके पास इस वक्त एक धेला भी न था। अगर वह जानते कि दवा मिलने में इतनी दिक़्क़त होगी, तो गाँववालों से ही कुछ माँग-जाँचकर लाए होते। बेचारे हतबुद्धि-से खड़े सोच रहे थे कि अब क्या करना चाहिए? सहसा डाक्टर साहब स्वयं बंगले से निकल आए। पंडितजी लपककर उनके पैरों पर गिर पड़े, और करुण स्वर में बोले—दीनबन्धु, मेरे घर के तीन आदमी ताऊन में पड़े हुए हैं। बड़ा गरीब हूँ सरकार, कोई दवा मिले।

डाक्टर साहब के पास ऐसे ग़रीब लोग नित्य आया करते थे। उनके चरणों पर किसी का गिर पड़ना, उनके सामने पड़े हुए आर्तनाद करना, उनके लिये कुछ नयी बातें न थीं। अगर इस तरह वह दया करने लगते, तो दया ही भर

को होते, यह ठाट-बाट कहाँ से निभता ? मगर दिल के चाहे कितने ही बुरे हों, बातें मीठी-मीठी करते थे; पैर हटाकर बोले—रोगी कहाँ है ?

पंडित—सरकार, वे तो घर पर हैं। इतनी दूर कैसे लाता?

डाक्टर—रोगी घर हैं, और तुम दवा लेने आया है। कितना मज़े का बात है। रोगी को देखे बिना कैसे दवा दे सकता है ?

पंडितजी को अपनी भूल मालूम हुई। वास्तव में बिना रोगी को देखे रोग की पहचान कैसे हो सकती है। लेकिन तीन-तीन रोगियों को इतनी दूर लाना आसान न था। अगर गाँववाले उनकी सहायता करते, तो डोलियों का प्रबन्ध हो सकता था। पर वहाँ तो सब कुछ अपने ही बूते पर करना था, गाँववालों से इसमें सहायता मिलने की कोई आशा न थी। सहायता की कौन कहे, वे तो उनके शत्रु हो रहे थे। उन्हें भय होता था कि यह दुष्ट देवताओं से वैर बढ़ाकर हम लोगों पर न जाने क्या विपत्ति लावेगा। अगर कोई दूसरा आदमी होता, तो वह उसे कब का मार चुके होते। पंडितजी से उन्हें प्रेम हो गया था, इसलिये छोड़ दिया था।

यह जवाब सुनकर पंडितजी को कुछ बोलने का साहस तो न होता था, पर कलेजा मज़बूत करके बोले—सरकार, अब कुछ नहीं हो सकता ?

डाक्टर—अस्पताल से दवा नहीं मिल सकता। हम अपने पास से दाम लेकर दवा दे सकता है।

पंडित—यह दवा कितने की होगी सरकार ?

डाक्टर साहब ने दवा का दाम १०) बतलाया; और यह भी कहा कि इस दवा से जितना लाभ होगा, उतना अस्पताल की दवा से नहीं हो सकता। बोले—वहाँ पुराना दवाई रक्खा रहता है। गरीब लोग आता है, दवाई ले जाता है; जिसको जीना होता है, जीता है, जिसे मरना होता है, मरता है, हमसे कुछ मतलब नहीं। हम तुमको जो दवा देगा, वह सच्चा दवा होगा।

दस रुपये! इस समय पंडितजी को दस रुपये दस लाख जान पड़े। इतने रुपये वह एक दिन में भंग-बूटी में उड़ा दिया करते थे। पर इस समय तो धेले-धेले को मुहताज थे। किसी से उधार मिलने की आशा कहाँ। हाँ, सम्भव है, भिक्षा माँगने से कुछ मिल जाय। लेकिन इतनी जल्द दस रुपये किसी उपाय से भी न मिल सकते थे। आध घंटे तक वह उसी उधेड़-बुन में खड़े रहे। भिक्षा के सिवा दूसरा कोई उपाय न सूझता था, और भिक्षा उन्होंने कभी माँगी न थी। वह चन्दे जमाकर चुके थे, एक-एक बार में हज़ारों वसूल कर लेते थे; पर वह दूसरी बात थी। धर्म के रक्षक, जाति के सेवक, और दलितों के उद्धारक बनकर चन्दा लेने में एक गौरव था, चन्दा लेकर वह देनेवालों पर एहसान करते थे। पर यहाँ तो भिखारियों की भाँति हाथ फैलाना, गिड़गिड़ाना और फटकारें सहनी पड़ेंगी। कोई कहेगा, इतने मोटे-ताज़े तो हो, मिहनत क्यों नहीं करते, तुम्हें भीख माँगते शर्म भी नहीं आती? कोई

कहेगा, घास खोद लाओ, मैं तुम्हें अच्छी मज़दूरी दूँगा। किसी को उनके ब्राह्मण होने का विश्वास न आवेगा। अगर यहाँ उनकी रेशमी अचकन और रेशमी साफ़ा होता, केसरिया रंगवाला दुपट्टा ही मिल जाता, तो वह कोई स्वाँग भर लेते। ज्योतिषी बनकर वह किसी धनी सेठ को फाँस सकते थे, और इस फ़न में वह उस्ताद भी थे। पर यहाँ वह सामान कहाँ—कपड़े-लत्ते तो सब लुट चुके थे। विपत्ति में कदाचित् बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। अगर वह मैदान में खड़े होकर कोई मनोहर व्याख्यान दे देते, तो शायद उनके दस-पाँच भक्त पैदा हो जाते। लेकिन इस तरफ़ उनका ध्यान ही न गया। वह सजे हुए पंडाल में, फूलों से सुसज्जित मेज़ के सामने, मंच पर खड़े होकर अपनी वाणी का चमत्कार दिखला सकते थे। इस दुरवस्था में कौन उनका व्याख्यान सुनेगा? लोग समझेंगे, कोई पागल बक रहा है।

मगर दोपहर ढली जा रही थी, अधिक सोच-विचार का अवकाश न था। यहीं सन्ध्या हो गई, तो रात को लौटना असम्भव हो जायगा। फिर रोगियों की न-जाने क्या दशा हो, वह अब इस अनिश्चित दशा में खड़े न रह सके। चाहे जितना तिरस्कार हो, कितना ही अपमान सहना पड़े, भिक्षा के सिवा और कोई उपाय न था।

वह बाज़ार में जाकर एक दूकान के सामने खड़े हो गए। पर कुछ माँगने की हिम्मत न पड़ी।

दूकानदार ने पूछा—क्या लोगे?

पंडितजी बोले—चावल का क्या भाव है ?

मगर दूसरी दूकान पर पहुँचकर वह ज्यादा सावधान हो गए। सेठजी गद्दी पर बैठे हुए थे। पंडितजी आकर उनके सामने खड़े हो गए, और गीता का एक श्लोक पढ़ सुनाया। उनका शुद्ध उच्चारण और मधुर वाणी सुनकर सेठजी चकित हो गए; पूछा—कहाँ स्थान है ?

पंडित—काशी से आ रहा हूँ।

यह कहकर पंडितजी ने सेठजी से धर्म के दसों लक्षण बतलाए, और श्लोक की ऐसी अच्छी व्याख्या की कि वह मुग्ध हो गया। बोला—महाराज, आज चलकर मेरे स्थान को पवित्र कीजिए।

कोई स्वार्थी आदमी होता, तो इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेता, लेकिन पंडितजी को तो लौटने की पड़ी थी। बोले—नहीं सेठजी, मुझे अवकाश नहीं है।

सेठ—महाराज, आपको हमारी इतनी ख़ातिरी करनी पड़ेगी।

पंडितजी जब किसी तरह ठहरने पर राज़ी न हुए तो सेठजी ने उदास होकर कहा—फिर हम आपकी क्या सेवा करें ? कुछ आज्ञा दीजिए। आपकी वाणी से तो तृप्ति नहीं हुई। फिर कभी इधर आना हो, तो अवश्य दर्शन दीजियेगा।

पंडित—आपकी इतनी श्रद्धा है, तो अवश्य आऊँगा।

यह कहकर पंडितजी फिर उठ खड़े हुए। संकोच ने फिर

उनकी ज़बान बन्द कर दी। यह आदर-सत्कार इसीलिये तो है कि मैं अपना स्वार्थ-भाव छिपाए हुए हूँ। कोई इच्छा प्रकट की और इनकी आँखें बदलीं। सूखा जवाब चाहे न मिले ; पर यह श्रद्धा न रहेगी। वह नीचे उतर गए, और सड़क पर एक क्षण के लिये खड़े होकर सोचने लगे—अब कहाँ जाऊँ? उधर जाड़े का दिन किसी विलासी के धन की भाँति भागा चला जाता था। वह अपने ही ऊपर झुँझला रहे थे—जब किसी से माँगूँगा ही नहीं, तो कोई क्यों देने लगा? कोई क्या मेरे मन का हाल जानता है? वे दिन गए, जब धनी लोग ब्राह्मणों की पूजा किया करते थे। यह आशा छोड़ दो कि कोई महाशय आकर तुम्हारे हाथ में रुपये रख देंगे। वह धीरे-धीरे आगे बढ़े।

सहसा सेठजी ने पीछे से पुकारा–पंडितजी जरा ठहरिए।

पंडितजी ठहर गए। फिर घर चलने के लिए आग्रह करने आता होगा। यह तो न हुआ कि एक दस रुपये का नोट लाकर दे देता, मुझे घर ले जाकर न जाने क्या करेगा!

मगर जब सेठजी ने सचमुच एक गिनी निकालकर उनके पैरों पर रख दी, तो उनकी आँखों में एहसान के आँसू छलक आए। हैं, अब भी सच्चे धर्मात्मा जीव संसार में हैं, नहीं तो यह पृथ्वी रसातल न चली जाती! अगर इस वक्त उन्हें सेठजी के कल्याण के लिए अपनी देह का सेर-आध-सेर रक्त भी देना पड़ता, तो भी शौक़ से दे देते। गद्गद कंठ से बोले—

इसका तो कुछ काम न था, सेठजी! मैं भिक्षुक नहीं हूँ, आपका सेवक हूँ।

सेठजी श्रद्धा-विनय-पूर्ण शब्दों में बोले—भगवन्, इसे स्वीकार कीजिए। यह दान नहीं, भेंट है। मैं भी आदमी पहचानता हूँ। बहुतेरे साधु-सन्त, योगी-यती, देश और धर्म के सेवक आते रहते हैं; पर न-जाने क्यों, किसी के प्रति मेरे मन में श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। उनसे किसी तरह पिंड छुड़ाने की पड़ जाती है। आपका संकोच देखकर मैं समझ गया कि आपका यह पेशा नहीं है। आप विद्वान् हैं, धर्मात्मा हैं; पर किसी संकट में पड़े हुए हैं। इस तुच्छ भेंट को स्वीकार कीजिए, और मुझे आशीर्वाद दीजिए।

[७]

पंडितजी दवाएँ लेकर घर चले, तो हर्ष, उल्लास और विजय से उनका हृदय उछला पड़ता था। हनूमान् भी संजीवनी बूटी लाकर इतने प्रसन्न न हुए होंगे। ऐसा सच्चा आनन्द उन्हें कभी प्राप्त न हुआ था। उनके हृदय में इतने पवित्र भावों का संचार कभी न हुआ था।

दिन बहुत थोड़ा रह गया था। सूर्यदेव अविरल गति से पश्चिम की ओर दौड़ते चले जाते थे। क्या उन्हें भी किसी रोगी को दवा देनी थी? वह बड़े वेग से दौड़ते हुए एक पर्वत की ओट में छिप गए। पंडितजी और भी फुर्ती से पाँव बढ़ाने लगे, मानो उन्होंने सूर्यदेव को पकड़ लेने की ठानी हो।

देखते-देखते अंधेरा छा गया। आकाश में दो-एक तारे

दिखाई देने लगे। अभी दस मील की मंज़िल बाक़ी थी। जिस तरह काली घटा को सिर पर मँडलाते देखकर गृहिणी दौड़-दौड़कर सुखावन समेटने लगती है, उसी भाँति लीलाधर ने दौड़ना शुरू किया। उन्हें अकेले पड़ जाने का भय न था, भय था अँधेरे में राह भूल जाने का। दाहिने-बाएँ बस्तियाँ छूटती जाती थीं। पंडितजी को ये गाँव इस समय बहुत ही सुहावने मालूम होते थे। कितने आनन्द से लोग अलाव के सामने बैठे ताप रहे हैं!

सहसा उन्हें एक कुत्ता दिखलाई दिया। न-जाने किधर से आकर वह उनके सामने पगडंडी पर चलने लगा। पंडितजी चौंक पड़े; पर एक क्षण में उन्होंने कुत्ते को पहचान लिया। वह बूढ़े चौधरी का कुत्ता मोती था। वह गाँव छोड़कर आज इधर इतनी दूर कैसे आ निकला? क्या वह जानता था कि पंडितजी दवा लेकर आ रहे होंगे, कहीं रास्ता न भूल जायँ? कौन जानता है; पंडितजी ने एक बार 'मोती' कहकर पुकारा, तो कुत्ते ने दुम हिलाई; पर रुका नहीं। वह इससे अधिक परिचय देकर समय नष्ट न करना चाहता था। पंडितजी को ज्ञान हुआ कि ईश्वर मेरे साथ हैं, वही मेरी रक्षा कर रहे हैं। अब उन्हें कुशल से घर पहुँचने का विश्वास हो गया।

दस बजते-बजते पंडितजी घर पहुँच गये।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

रोग घातक न था; पर यश पंडितजी को बढ़ा था। एक

सप्ताह के बाद तीनों रोगी चंगे हो गए। पंडितजी की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई। उन्होंने यमदेवता से घोर संग्राम करके इन आदमियों को बचा लिया था। उन्होंने देवताओं पर भी विजय पा ली थी—असम्भव को संभव कर दिखाया था। वह साक्षात् भगवान् थे। उनके दर्शनों के लिये लोग दूर-दूर से आने लगे। किन्तु पंडितजी को अपनी कीर्ति से इतना आनन्द न होता था, जितना रोगियों को चलते-फिरते देखकर।

चौधरी ने कहा—महाराज, तुम साच्छात भगवान् हो। तुम न आ जाते तो हम न वचते।

पंडितजी बोले—मैंने कुछ नहीं किया। यह सब ईश्वर की दया है।

चौधरी—अब हम तुम्हें कभी न जाने देंगे। जाकर अपने बाल-बच्चों को ले आओ।

पंडित—हाँ, मैं भी यही सोच रहा हूँ। तुमको छोड़कर अब नहीं जा सकता।

[८]

मुल्लाओं ने मैदान खाली पाकर आस-पास के देहातों में खूब ज़ोर बाँध रक्खा था। गाँव-के-गाँव मुसलमान होते जाते थे। उधर हिन्दू-सभा ने सन्नाटा खींच लिया था। किसी की हिम्मत न पड़ती थी कि इधर आवे। लोग दूर बैठे हुए मुसलमानों पर गोला-बारूद चला रहे थे। इस हत्या का बदला कैसे लिया जाय, यही उनके सामने सबसे बड़ी समस्या

थी। अधिकारियों के पास बार-बार प्रार्थना-पत्र भेजे जा रहे थे कि इस मामले की छान-बीन की जाय; और बार-बार यही जवाब मिलता था कि हत्याकारियों का पता नहीं चलता। उधर पंडितजी के स्मारक के लिये चन्दा भी जमा किया जा रहा था।

मगर इस नयी ज्योति ने मुल्लाओं का रंग फीका कर दिया। यहाँ एक ऐसे देवता का अवतार हुआ था, जो मुर्दों को जिला देता था, जो अपने भक्तों के कल्याण के लिये अपने प्राणों को बलिदान कर सकता था। मुल्लाओं के यहाँ यह विभूति कहाँ, यह चमत्कार कहाँ? इस ज्वलन्त उपकार के सामने जन्नत और अख़ूवत (भ्रातृभाव) की कोरी दलीलें कब ठहर सकती थीं? पंडितजी अब वह अपने ब्राह्मणत्व पर घमंड करने वाले पंडितजी न थे। उन्होंने शूद्रों और भीलों का आदर करना सीख लिया था। उन्हें छाती से लगाते हुए अब पंडितजी को घृणा न होती थी। अपना घर अँधेरा पाकर ही ये इसलामी दीपक की ओर झुके थे। जब अपने घर में सूर्य का प्रकाश हो गया, तो इन्हें दूसरों के यहाँ जाने की क्या ज़रूरत थी। सनातनधर्म की विजय हो गई। गाँव-गाँव में मन्दिर बनने लगे और शाम-सवेरे मन्दिरों से शंख और घंटे की ध्वनि सुनाई देने लगी। लोगों के आचरण आप-ही-आप सुधरने लगे। पंडितजी ने किसी को शुद्ध नहीं किया, उन्हें अब शुद्धि का नाम लेते शर्म आती थी—मैं भला इन्हें क्या शुद्ध करूँगा। पहले अपने को तो शुद्ध कर लूँ। ऐसी

निर्मल, पवित्र आत्माओं को शुद्ध के ढोंग से अपमानित नहीं कर सकता।

यही मन्त्र था, जो उन्होंने उन चांडालों से सीखा था और इसी के बल से वह अपने धर्म की रक्षा करने में सफल हुए थे।

पंडितजी अभी जीवित हैं, पर अब सपरिवार उसी प्रान्त में, उन्हीं भीलों के साथ, रहते हैं।

अभ्यास

१—शुद्धि और अछूतों के आन्दोलन के सम्बन्ध में जो कुछ जानते हो लिखो।

२—पं० लीलाधर को बूढ़े के सम्पर्क में किस 'मन्त्र' की दीक्षा प्राप्त हुई ?

३—पं० लीलाधर के व्याख्यानों के जो उदाहरण दिये गये हैं उनके आधार पर बतलाओ कि व्याख्यान का प्रभाव जमाने के लिये किन-किन बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता है ?

४—निम्नलिखित मुहावरों का अर्थ बतलाओ और उन्हें अपने बनाए वाक्यों में प्रयुक्त करो—

'गुर' बताना, उलटे छुरे से मूड़ना, तूफ़ान मचा रखना, जूतियाँ चाटना, हाथ बढ़ाना।

५—'हज़रत इज़राईल' कौन थे ?

६—अछूतोद्धार पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखो।

सती

[१]

दो शताब्दियों से अधिक बीत गये हैं, पर चिन्तादेवी का नाम चला जाता है। बुन्देलखंड के एक बीहड़ स्थान में आज भी मंगलवार को सहस्रों स्त्री-पुरुष चिन्तादेवी की पूजा करने आते हैं। उस दिन यह निर्जन स्थान सोहाने गीतों से गूँज उठता है, टीले और टीकरे रमणियों के रंग-बिरंगे वस्त्रों से सुशोभित हो जाते हैं। देवी का मन्दिर एक बहुत ऊँचे टीले पर बना हुआ है। उसके कलश पर लहराती हुई लाल पताका बहुत दूर से दिखाई देती है। मन्दिर इतना छोटा है कि उसमें मुशकिल से एक साथ दो आदमी समा सकते हैं। भीतर कोई प्रतिमा नहीं है, केवल एक छोटी-सी वेदी बनी हुई है। नीचे से मन्दिर तक पत्थर का ज़ीना है। भीड़-भाड़ में धक्का खाकर कोई नीचे न गिर पड़े, इसलिये ज़ीने के दोनों तरफ़ दीवार बनी हुई है। यहीं चिन्तादेवी सती हुई थीं; पर लोकरीति के अनुसार वह अपने मृत-पति के साथ चिता पर नहीं बैठी थीं। उनका पति हाथ जोड़े खड़ा था; पर वह उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखती थीं। वह पति के शरीर के साथ नहीं उसकी आत्मा के साथ सती हुईं। उस चिता पर पति का शरीर न था, उसकी मर्यादा भस्मीभूत हो रही थी।

[२]

यमुना-तट पर कालपी एक छोटा-सा नगर है। चिन्ता उसी नगर के एक वीर बुन्देले की कन्या थी। उसकी माता उसकी बाल्यावस्था में ही परलोक सिधार चुकी थीं। उसके पालन-पोषण का भार पिता पर पड़ा। वह संग्राम का समय था, योद्धाओं को कमर खोलने की भी फ़ुरसत न मिलती थी, वे घोड़े की पीठ पर भोजन करते और ज़ीन ही पर झपकियाँ ले लेते थे। चिन्ता का बाल्यकाल पिता के साथ समर-भूमि में कटा। बाप उसे किसी खोह या वृक्ष की आड़ में छिपाकर मैदान में चला जाता। चिन्ता निःशंक भाव से बैठी हुई मिट्टी के क़िले बनाती और बिगाड़ती। उसके घरौंदे क़िले होते थे, उसकी गुड़ियाँ ओढ़नी न ओढ़ती थीं। वह सिपाहियों के गुड्डे बनाती और उन्हें रणक्षेत्र में खड़ा करती थी। कभी-कभी उसका पिता सन्ध्या समय भी न लौटता पर चिंता को भय छू तक न गया था। निर्जन-स्थान में भूखी-प्यासी रात-रात भर बैठी रह जाती। उसने नेवले और सियार की कहानियाँ कभी न सुनी थीं। वीरों के आत्मोत्सर्ग की कहानियाँ; और वह भी योद्धाओं के मुँह से, सुन-सुनकर वह आदर्शवादिनी बन गई थी।

एक बार तीन दिन तक चिन्ता को अपने पिता की खबर न मिली। वह एक पहाड़ की खोह में बैठी मन-ही-मन एक ऐसा क़िला बना रही थी, जिसे शत्रु किसी भाँति जान न सके। दिन-भर वह उसी क़िले का नकशा सोचती और रात

को उसी किले का स्वप्न देखती। तीसरे दिन सन्ध्या-समय उसके पिता के कई साथियों ने आकर उसके सामने रोना शुरू किया। चिन्ता ने विस्मित होकर पूछा—"दादाजी कहाँ हैं? तुम लोग क्यों रोते हो?"

किसी ने इसका उत्तर न दिया। वे ज़ोर से धाड़ें मार-मारकर रोने लगे। चिन्ता समझ गई कि उसके पिता ने वीर-गति पाई। उस तेरह वर्ष की बालिका की आँखों से आँसू की एक बूँद भी न गिरी, मुख ज़रा भी मलिन न हुआ, एक आह भी न निकली। हँसकर बोली—"अगर उन्होंने वीर-गति पाई, तो तुम लोग रोते क्यों हो? योद्धाओं के लिये इससे बढ़कर और कौन मृत्यु हो सकती है, इससे बढ़कर उनकी वीरता का और क्या पुरस्कार मिल सकता है? यह रोने का नहीं, आनन्द मनाने का अवसर है।"

एक सिपाही ने चिन्तित स्वर में कहा—"हमें तुम्हारी चिन्ता है। तुम अब कहाँ रहोगी?"

चिन्ता ने गम्भीरता से कहा—"इसकी तुम कुछ चिन्ता न करो दादा! मैं अपने बाप की बेटी हूँ। जो कुछ उन्होंने किया, वही मैं भी करूँगी। अपनी मातृभूमि को शत्रुओं के पंजे से छुड़ाने में उन्होंने प्राण दे दिए। मेरे सामने भी वही आदर्श है। जाकर अपने आदमियों को सँभालिए। मेरे लिये एक घोड़े और हथियारों का प्रबन्ध कर दीजिए। ईश्वर ने चाहा, तो आप लोग मुझे किसी से पीछे न पावेंगे। लेकिन यदि मुझे पीछे हटते देखना, तो तलवार के एक हाथ से इस

जीवन का अन्त कर देना। यही मेरी आपसे विनय है। जाइए, अब विलम्ब न कीजिए।"

सिपाहियों को चिन्ता के ये वीरवचन सुनकर कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। हाँ, उन्हें यह संदेह अवश्य हुआ कि क्या यह कोमल बालिका अपने संकल्प पर दृढ़ रह सकेगी?

[३]

पाँच वर्ष बीत गए। समस्त प्रान्त में चिन्ता देवी की धाक बैठ गई। शत्रुओं के क़दम उखड़ गए। वह विजय की सजीव मूर्ति थी; उसे तीरों और गोलियों के सामने निःशंक खड़े देखकर सिपाहियों को उत्तेजना मिलती रहती थी। उसके सामने वे कैसे क़दम पीछे हटाते? जब कोमलांगी युवती आगे बढ़े, तो कौन पुरुष क़दम पीछे हटाएगा? सुन्दरियों के सम्मुख योद्धाओं की वीरता अजेय हो जाती है। रमणी के वचन-बाण योद्धाओं के लिये आत्म-समर्पण के गुप्त सन्देश हैं, उसकी एक चितवन कायरों में भी पुरुषत्व प्रवाहित कर देती है। चिन्ता की छवि और कीर्ति ने मनचले सूरमों को चारों ओर से खींच-खींचकर उसकी सेना को सजा दिया; जान पर खेलनेवाले भौंरे चारों ओर से आ-आकर इस फूल पर मँडलाने लगे।

इन्हीं योद्धाओं में रत्नसिंह नाम का एक युवक राजपूत भी था।

यों तो चिन्ता के सैनिकों में सभी तलवार के धनी थे; बात पर जान देनेवाले, उसके इशारे पर आग में कूदनेवाले; उसकी आज्ञा पाकर एक बार आकाश के तारे तोड़ लाने को

भी चल पड़ते ; किन्तु रत्नसिंह सबसे बढ़ा हुआ था। चिन्ता भी हृदय में उससे प्रेम करती थी। रत्नसिंह अन्य वीरों की भाँति अक्खड़, मुँहफट या घमंडी न था। और लोग अपनी-अपनी कीर्ति को खूब बढ़ा-बढ़ाकर बयान करते। आत्म-प्रशंसा करते हुए उनकी जबान न रुकती थी। वे जो कुछ करते, चिन्ता को दिखाने के लिये। उनका ध्येय अपना कर्तव्य न था, चिन्ता थी। रत्नसिंह जो कुछ करता, शान्त-भाव से। अपनी प्रशंसा करना तो दूर रहा, वह चाहे कोई शेर ही क्यों न मार आवे, उसकी चर्चा तक न करता। उसकी विनयशीलता और नम्रता संकोच की सीमा से भी बढ़ गई थी। औरों के प्रेम में विलास था ; पर रत्नसिंह के प्रेम में त्याग और तप। और लोग मीठी नींद सोते थे ; पर रत्नसिंह तारे गिन-गिनकर रात काटता था। और सब अपने दिल में समझते थे कि चिन्ता मेरी होगी, केवल रत्नसिंह निराश था, और इसीलिये उसे किसी से न द्वेष था, न राग। औरों को चिन्ता के सामने चहकते देखकर उसे उनकी वाक्पटुता पर आश्चर्य होता, प्रतिक्षण उसका निराशान्धकार और भी घना होता जाता था। कभी-कभी वह अपने बोदेपन पर झुँझला उठता। क्यों ईश्वर ने उसे उन गुणों से वंचित रक्खा, जो रमणियों के चित्त को मोहित करते हैं? उसे कौन पूछेगा? उसकी मनोव्यथा को कौन जानता है? पर वह मन में झुँझलाकर रह जाता था। दिखावे की उसमें सामर्थ्य ही न थी।

आधी से अधिक रात बीत चुकी थी। चिन्ता अपने खीमे

में विश्राम कर रही थी। सैनिकगण भी कड़ी मंज़िल मारने के बाद कुछ खा-पीकर ग़ाफ़िल पड़े हुए थे। आगे एक घना जंगल था। जंगल के उस पार शत्रुओं का एक दल डेरा डाले पड़ा था। चिन्ता उसके आने की खबर, पाकर भागी-भागी चली आ रही थी। उसने प्रातःकाल शत्रुओं पर धावा करने का निश्चय कर लिया था। उसे विश्वास था कि शत्रुओं को मेरे आने कि ख़बर न होगी। किन्तु यह उसका भ्रम था। उसी की सेना का एक आदमी शत्रुओं से मिला हुआ था। यहाँ की ख़बरें वहाँ नित्य पहुँचती रहती थीं। उन्होंने चिन्ता से निश्चिन्त होने के लिये एक षड्यन्त्र रच रक्खा था—उस की गुप्तहत्या करने के लिये तीन साहसी सिपाहियों को नियुक्त कर दिया था। वे तीनों हिंस्र-पशुओं की भाँति दबे पाँव जंगल को पार करके आए, और वृक्षों की आड़ में खड़े होकर सोचने लगे कि चिन्ता का ख़ेमा कौन-सा है। सारी सेना बेख़बर सो रही थी, इससे उन्हें अपने कार्य की सिद्धि में लेश-मात्र सन्देह न था। वे वृक्षों की आड़ से निकले, और ज़मीन पर मगर की तरह रेंगते हुए चिन्ता के ख़ेमे की ओर चले।

सारी सेना बेख़बर सोती थी, पहरे के सिपाही थककर चूर हो जाने के कारण निद्रा में मग्न हो गए थे। केवल एक प्राणी ख़ेमे के पीछे मारे ठंड के सिकुड़ा हुआ बैठा था। यह रत्नसिंह था। आज उसने यह कोई नयी बात न की थी। पड़ावों में उसकी रातें इसी भाँति चिन्ता के ख़ेमे के पीछे

बैठे-बैठे कटती थीं। घातकों की आहट पाकर उसने तलवार निकाल ली, और चौंककर उठ खड़ा हुआ। देखा, तीन आदमी झुके हुए चले आ रहे हैं। अब क्या करे? अगर शोर मचाता है, तो सेना में खलबली पड़ जाय, और अँधेरे में लोग एक दूसरे पर वार करके आपस ही में कट मरें। इधर अकेले तीन जवानों से भिड़ने में प्राणों का भय। अधिक सोचने का मौक़ा न था। उसमें योद्धाओं की अविलम्ब निश्चय कर लेने की शक्ति थी। तुरन्त तलवार खींच ली, और उन तीनों पर टूट पड़ा। कई मिनट तक तलवारें छपाछप चलती रहीं। फिर सन्नाटा हो गया। उधर वे तीनों आहत होकर गिर पड़े, इधर यह भी ज़ख्मों से चूर होकर अचेत हो गया।

प्रातःकाल चिन्ता उठी, तो चारों जवानों को भूमि पर पड़े पाया। उसका कलेजा धक्-से हो गया। समीप जाकर देखा, तीनों आक्रमणकारियों के प्राण निकल चुके थे; पर रत्नसिंह की साँस चल रही थी। सारी घटना समझ में आ गई। नारीत्व ने वीरत्व पर विजय पाई। जिन आँखों से पिता की मृत्यु पर आँसू की एक बूँद भी न गिरी थी, उन्हीं आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उसने रत्नसिंह का सिर अपनी जाँघ पर रख लिया, और हृदयांगण में रचे हुए स्वयंवर में उसके गले में जयमाला डाल दी।

[४]

महीने-भर न रत्नसिंह की आंखें खुलीं, और न चिन्ता की

आँखें बन्द हुईं। चिन्ता उसके पास से एक क्षण के लिये भी कहीं न जाती। न अपने इलाक़े की परवा थी, न शत्रुओं के बढ़ते चले आने की फ़िक्र। रत्नसिंह पर वह अपनी सारी विभूतियों को बलिदान कर चुकी थी। पूरा महीना बीत जाने के बाद रत्नसिंह की आँख खुली। देखा चारपाई पर पड़ा हुआ है, और चिन्ता सामने पंखा लिए खड़ी है। क्षणिक स्वर में बोला—"चिन्ता पंखा मुझे दे दो। तुम्हें कष्ट हो रहा है।"

चिन्ता का हृदय इस समय स्वर्ग के अखंड, अपार सुख का अनुभव कर रहा था। एक महीना पहले जिस शीर्ण शरीर के सिरहाने बैठी हुई वह नैराश्य से रोया करती थी, उसे आज बोलते देखकर उसके आह्लाद का पारावार न था। उसने स्नेह मधुर स्वर में कहा—"प्राणनाथ, यदि यह कष्ट है; तो सुख क्या है, मैं नहीं जानती।" "प्राणनाथ"—इस सम्बोधन में विलक्षण मन्त्र की-सी शक्ति थी। रत्नसिंह की आँखें चमक उठीं। जीर्ण मुद्रा प्रदीप्त हो गई, नसों में एक नये जीवन का संचार हो गया, और वह जीवन कितना स्फूर्तिमय था, उसमें कितना उत्साह, कितना माधुर्य, कितना उल्लास और कितनी करुणा थी! रत्नसिंह के अंग-अंग फड़कने लगे। उसे अपनी भुजाओं में अलौकिक पराक्रम का अनुभव होने लगा। ऐसा जान पड़ा, मानों वह सारे संसार को सर कर सकता है; उड़कर आकाश पर पहुँच सकता है; पर्वतों को चीर सकता है। एक क्षण के लिये उसे ऐसी तृप्ति

हुई, मानों उसकी सारी अभिलाषाएँ पूरी हो गई हैं, मानों वह अब किसी से कुछ नहीं चाहता ; शायद शिव को सामने खड़े देखकर भी वह मुँह फेर लेगा, कोई वरदान न माँगेगा। उसे अब किसी ऋद्धि की, किसी पदार्थ की, इच्छा न थी। उसे गर्व हो रहा था, मानों उससे अधिक सुखी, उससे अधिक भाग्यशाली पुरुष संसार में और कोई न होगा!

चिन्ता अभी अपना वाक्य पूरा न कर पाई थी। उसी प्रसंग में बोली—"हाँ, आपको मेरे कारण अलबत्ता दुस्सह यातना भोगनी पड़ी!"

रत्नसिंह ने उठने की चेष्टा करके कहा—"विना तप के सिद्धि नहीं मिलती।"

चिन्ता ने रत्नसिंह को कोमल हाथों से लिटाते हुए कहा—"इस सिद्धि के लिये तुमने तपस्या नहीं की थी। झूठ क्यों बोलते हो? तुम केवल एक अबला की रक्षा कर रहे थे। यदि मेरी जगह कोई दूसरी स्त्री होती, तो भी तुम इतने ही प्राण-पण से उसकी रक्षा करते। मुझे इसका विश्वास है। मैं तुमसे सत्य कहती हूँ, मैंने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का प्रण कर लिया था ; लेकिन तुम्हारे आत्मोत्सर्ग ने मेरे प्रण को तोड़ डाला। मेरा पालन योद्धाओं की गोद में हुआ है ; मेरा हृदय उसी पुरुषसिंह के चरणों पर अर्पण हो सकता है, जो प्राणों की बाजी खेल सकता हो। रसिकों के हास-विलास, गुंडों के रूप-रंग और फेकैतों के दाँव-घात का मेरी दृष्टि में रत्ती भर भी मूल्य नहीं। उनकी नट-विद्या को मैं केवल तमाशे की

तरह देखती हूँ। तुम्हारे ही हृदय में मैंने सच्चा उत्सर्ग पाया, और तुम्हारी दासी हो गई—आज से नहीं, बहुत दिनों से।"

[५]

प्रणय की पहली रात थी। चारों ओर सन्नाटा था। केवल दोनों प्रेमियों के हृदयों में अभिलाषाएँ लहरा रही थीं। चारों ओर अनुरागमयी चाँदनी छिटकी हुई थी, और उसकी हास्य-मयी छटा में वर और वधू प्रेमालाप कर रहे थे।

सहसा ख़बर आई कि शत्रुओं की एक सेना क़िले की ओर बढ़ी चली आती है। चिन्ता चौंक पड़ी; रत्नसिंह खड़ा हो गया, और खूँटी से लटकती हुई तलवार उतार ली।

चिन्ता ने उसकी ओर कातर-स्नेह की दृष्टि से देखकर कहा—"कुछ आदमियों को उधर भेज दो, तुम्हारे जाने की क्या ज़रूरत है?"

रत्नसिंह ने बन्दूक कन्धे पर रखते हुए कहा—"मुझे भय है कि अबकी वे लोग बड़ी संख्या में आ रहे हैं।"

चिन्ता—"तो मैं भी चलूँगी।"

"नहीं, मुझे आशा है, वे लोग ठहर न सकेंगे! मैं एक ही धावे में उनके क़दम उखाड़ दूँगा। यह ईश्वर की इच्छा है कि हमारी प्रणय-रात्रि विजय-रात्रि हो।"

"न-जाने क्यों मन कातर हो रहा है। जाने देने को जी नहीं चाहता!"

रत्नसिंह ने इस सरल, अनुरक्त आग्रह से विह्वल होकर

चिन्ता को गले लगा लिया, और बाले—"मैं सबेरे तक लौट आऊँगा प्रिये !"

चिन्ता पति के गले में हाथ डालकर आँखों में आँसू भरे हुए बोली—"मुझे भय है, तुम बहुत दिनों में लौटोगे। मेरा मन तुम्हारे साथ रहेगा। जाओ, पर रोज़ ख़बर भेजते रहना। तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, अवसर का विचार करके धावा करना। तुम्हारी आदत है कि शत्रु देखते ही आकुल हो जाते हो, और जान पर खेलकर टूट पड़ते हो। तुमसे मेरा यही अनुरोध है कि अवसर देखकर काम करना। जाओ, जिस तरह पीठ दिखाते हो, उसी तरह मुँह दिखाओ।"

चिन्ता का हृदय कातर हो रहा था। वहाँ पहले केवल विजय-लालसा का आधिपत्य था, अब भोग लालसा की प्रधानता थी। वही वीर-बाला, जो सिंहिनी की तरह गरज कर शत्रुओं के कलेजे कँपा देती थी, आज इतनी दुर्बल हो रही थी कि जब रत्नसिंह घोड़े पर सवार हुआ, तो आप उसकी कुशल-कामना से मन-ही-मन देवी की मनौतियाँ कर रही थी। जब तक वह वृक्षों की ओट में छिप न गया, वह खड़ी उसे देखती रही, फिर वह क़िले के सबसे ऊँचे बुर्ज पर चढ़ गई, और घंटों उसी तरफ़ ताकती रही। वहाँ शून्य था, पहाड़ियों ने कभी का रत्नसिंह को अपनी ओट में छिपा लिया था; पर चिन्ता को ऐसा जान पड़ता था कि वह सामने चले जा रहे हैं। जब ऊषा की लोहित छबि वृक्षों की आड़ से झाँकने लगी, तो उसकी मोह-विस्मृति टूट गई। मालूम हुआ,

चारों ओर शून्य है। वह रोती हुई बुर्ज से उतरी, और शय्या पर मुँह ढाँपकर रोने लगी।

[६]

रत्नसिंह के साथ मुशकिल से सौ आदमी थे; किन्तु सभी मँजे हुए, अवसर और संख्या को तुच्छ समझनेवाले, अपनी जान के दुश्मन। वे वीरोल्लास से भरे हुए एक वीर-रस-पूर्ण पद गाते हुए घोड़ों को बढ़ाए चले जाते थे—

बाँकी तेरी पाग सिपाही, इसकी रखना लाज।
तेग़-तबर कुछ काम न आवे; बख़तर-ढाल व्यर्थ हो जावे।
रखियो मन में लाग; सिपाही बाँकी तेरी पाग।
इसकी रखना लाज।

पहाड़ियाँ इन वीर-स्वरों से गूँज रही थीं, घोड़ों की टाप ताल दे रही थीं। यहाँ तक कि रात बीत गई, सूर्य ने अपनी लाल आँखें खोल दीं, और इन वीरों पर अपनी स्वर्णच्छटा की वर्षा करने लगा।

वहीं रक्तमय प्रकाश में शत्रुओं की सेना एक पहाड़ी पर पड़ाव डाले हुए नज़र आई।

रत्नसिंह सिर झुकाए, वियोग-व्यथित हृदय को दबाए, मन्द गति से पीछे-पीछे चला जाता था। क़दम आगे बढ़ता था, पर मन पीछे हटता था। आज जीवन में पहली बार दुश्चिन्ताओं ने उसे आशंकित कर रक्खा था। कौन जानता है; लड़ाई का अन्त क्या होगा! जिस स्वर्ग-सुख को छोड़कर

वह आया था, उसकी स्मृतियाँ रह-रहकर उसके हृदय को मसोस रही थीं। चिन्ता की सजल आँखें याद आती थीं, और जी चाहता था, घोड़े की रास पीछे मोड़ दे। प्रतिक्षण रणोत्साह क्षीण होता जाता था। सहसा एक सरदार ने समीप आकर कहा—"भैया, वह देखो ऊँची पहाड़ी पर शत्रु डेरे डाले पड़ा है। तुम्हारी अब क्या राय है? हमारी तो यह इच्छा है कि तुरन्त उनपर धावा कर दें। ग़ाफ़िल पड़े हुए हैं, भाग खड़े होंगे। देर करने से वे भी सँभल जायँगे, और तब मामला नाज़ुक हो जायगा। एक हज़ार से कम न होंगे।"

रत्नसिंह ने चिन्तित नेत्रों से शत्रु-दल की ओर देखकर कहा—"हाँ, मालूम तो होता है।"

सिपाही—"तो धावा कर दिया जाय न?"

रत्न०—"जैसी तुम्हारी इच्छा। संख्या अधिक है, यह सोच लो।"

सिपाही—"इसकी परवा नहीं। हम इससे बड़ी सेनाओं को परास्त कर चुके हैं।"

रत्न०—"यह सच है; पर आग में कूदना ठीक नहीं।"

सिपाही—"भैया, तुम कहते क्या हो? सिपाही का तो जीवन ही आग में कूदने के लिये है। तुम्हारे हुक्म की देर है, फिर हमारा जीवट देखना।"

रत्न०—"अभी हम लोग बहुत थके हुए हैं। ज़रा विश्राम कर लेना अच्छा है।"

सिपाही—"नहीं भैया, उन सबों को हमारी आहट मिल गई, तो ग़ज़ब हो जायगा।"

रत्न०—"तो फिर धावा ही कर दो।"

एक क्षण में योद्धाओं ने घोड़ों की बागें उठा दीं, और सँभाले हुए शत्रु-सेना पर लपके। किन्तु पहाड़ी पर पहुँचते ही इन लोगों को मालूम हो गया कि शत्रु-दल ग़ाफ़िल नहीं है। इन लोगों ने उनके विषय में जो अनुमान किया था, वह मिथ्या था। वे सजग ही नहीं थे, स्वयं किले पर धावा करने की तैयारियाँ कर रहे थे। इन लोगों ने जब उन्हें सामने आते देखा, समझ गए, भूल हुई; लेकिन अब सामना करने के सिवा चारा ही क्या था। फिर भी वे निराश न थे। रत्नसिंह-जैसे कुशल योद्धा के साथ उन्हें कोई शंका न थी। वह इससे भी कठिन अवसरों पर अपने रण-कौशल से विजय-लाभ कर चुका था। क्या आज वह अपना जौहर न दिखावेगा? सारी आँखें रत्नसिंह को खोज रही थीं; पर उसका वहाँ कहीं पता न था। कहाँ चला गया, यह कोई न जानता था।

पर वह कहीं नहीं जा सकता। अपने साथियों को इस कठिन अवस्था में छोड़कर वह कहीं नहीं जा सकता। सम्भव नहीं, अवश्य ही वह यहीं है, और हारी हुई बाज़ी को जीतने की कोई युक्ति सोच रहा है।

एक क्षण में शत्रु इनके सामने आ पहुँचे। इतनी बहुसंख्यक सेना के सामने ये मुट्ठी-भर आदमी क्या कर सकते थे।

चारों ओर से रत्नसिंह की पुकार होने लगी—"भैया, तुम कहाँ हो? हमें क्या हुक्म देते हो? देखते हो, वे लोग सामने आ पहुँचे; पर तुम अभी तक मौन खड़े हो। सामने आकर हमें मार्ग दिखाओ, हमारा उत्साह बढ़ाओ।"

पर अब भी रत्नसिंह न दिखाई दिया। यहाँ तक कि शत्रु-दल सिर पर आ पहुँचा, और दोनों दलों में तलवारें चलने लगीं। बुन्देलों ने प्राण हथेली पर लेकर लड़ना शुरू किया, पर एक को एक बहुत होता है; एक और दस का मुक़ाबला ही क्या? यह लड़ाई न थी, प्राणों का जूआ था। बुन्देलों में निराशा का अलौकिक बल था। खूब लड़े, पर क्या मजाल कि क़दम पीछे हटे। उनमें अब ज़रा भी संगठन न था। जिससे जितना आगे बढ़ते बना, बढ़ा। अन्त क्या होगा, इसकी किसी को चिन्ता न थी। कोई तो शत्रुओं की सफ़ें चीरता हुआ सेनापति के समीप पहुँच गया, कोई उसके हाथी पर चढ़ने की चेष्टा करते मारा गया। उनका अमानुषिक साहस देखकर शत्रुओं के मुँह से भी वाह-वाह निकलती थी। लेकिन ऐसे योद्धाओं ने नाम पाया है, विजय नहीं पाई। एक घंटे में रंगमंच का परदा गिर गया, तमाशा खतम हो गया। एक आँधी थी, जो आई और वृक्षों को उखाड़ती हुई चली गई। संगठित रहकर ये ही मुट्ठी-भर आदमी दुश्मनों के दाँत खट्टे कर देते; पर जिसपर संगठन का भार था उसका कहीं पता न था। विजयी मरहठों ने एक-एक लाश ध्यान से देखी। रत्नसिंह उनकी आँखों में खटकता

था। उसी पर उनके दाँत लगे थे। रत्नसिंह के जीते-जी उन्हें नींद न आती थी। लोगों ने पहाड़ी की एक-एक चट्टान का मन्थन कर डाला; पर रत्न न हाथ आया। विजय हुई, पर अधूरी।

[७]

चिन्ता के हृदय में आज न-जाने क्यों, भाँति-भाँति की शंकाएँ उठ रही थीं। वह कभी इतनी दुर्बल न थी। बुन्देलों की हार ही क्यों होगी, इसका कोई कारण तो वह न बता सकती थी, पर वह भावना उसके विकल हृदय से किसी तरह न निकलती थी। उस अभागिन के भाग्य में प्रेम का सुख भोगना लिखा होता, तो क्या बचपन ही में माँ मर जाती, पिता के साथ वन-वन घूमना पड़ता, खोहों और कन्दराओं में रहना पड़ता! और वह आश्रय भी तो बहुत दिन न रहा। पिता भी मुँह मोड़कर चल दिए। तब से उसे एक दिन भी तो आराम से बैठना नसीब न हुआ। विधना क्या अब अपना क्रूर कौतुक छोड़ देगा? आह! उसके दुर्बल हृदय में इस समय एक विचित्र भावना उत्पन्न हुई—ईश्वर उसके प्रियतम को आज सकुशल लावे, तो वह उसे लेकर किसी दूर के गाँव में जा बसेगी, पति-देव की सेवा और आराधना में जीवन सफल करेगी। इस संग्राम से सदा के लिये मुँह मोड़ लेगी। आज पहली बार नारीत्व का भाव उसके मन में जाग्रत् हुआ।

सन्ध्या हो गई थी, सूर्य भगवान् किसी हारे हुए सिपाही

की भाँति मस्तक झुकाए कोई आड़ खोज रहे थे। सहसा एक सिपाही नंगे सिर, नंगे पाँव, निःशस्त्र, उसके सामने आकर खड़ा हो गया। चिन्ता पर वज्रपात हो गया। एक क्षण तक मर्माहत-सी बैठी रही। फिर उठकर घबराई हुई सैनिक के पास आई, और आतुर स्वर में पूछा—"कौन-कौन बचा?"

सैनिक ने कहा—"कोई नहीं।"

"कोई नहीं! कोई नहीं!!"

चिन्ता सिर पकड़कर भूमि पर बैठ गई। सैनिक ने फिर कहा—"मरहठे समीप आ पहुँचे।"

"समीप आ पहुँचे!!"

"बहुत समीप!"

"तो तुरत चिता तैयार करो। समय नहीं है।"

"अभी हम लोग तो सिर कटाने को हाज़िर ही हैं।"

"तुम्हारी जैसी इच्छा। मेरे कर्तव्य का तो यहीं अन्त है।"

"क़िला बन्द करके हम महीनों लड़ सकते हैं।"

"तो जाकर लड़ो। मेरी लड़ाई अब किसी से नहीं।"

एक ओर अन्धकार प्रकाश को पैरों-तले कुचलता चला आता था, दूसरी ओर विजयी मरहठे लहराते हुए खेतों को; और क़िले में चिता बन रही थी। ज्यों ही दीपक जले, चिता में भी आग लगी। सती चिन्ता, सोलहों शृंगार किए, अनुपम छबि दिखाती हुई, प्रसन्न-मुख अग्नि-मार्ग से पतिलोक की यात्रा करने जा रही थी।

[८]

चिता के चारों ओर स्त्री और पुरुष जमा थे। शत्रुओं ने क़िले को घेर लिया है, इसकी किसी को फ़िक्र न थी। शोक और सन्ताप से सबके चेहरे उदास और सिर झुके थे। अभी कल इसी आँगन में विवाह का मंडप सजाया गया था। जहाँ इस समय चिता सुलग रही है, वहीं कल हवनकुंड था। कल भी इसी भाँति अग्नि की लपटें उठ रही थीं, इसी भाँति लोग जमा थे; पर आज और कल के दृश्यों में कितना अन्तर है! हाँ, स्थूल नेत्रों के लिये अन्तर हो सकता है; पर वास्तव में यह उसी यज्ञ की पूर्णाहुति है, उसी प्रतिज्ञा का पालन है।

सहसा घोड़े की टापों की आवाज़ें सुनाई देने लगीं। मालूम होता था, कोई सिपाही घोड़े को सरपट भगाता चला आ रहा है। एक क्षण में टापों की आवाज़ बन्द हो गई, और एक सैनिक आँगन में दौड़ा हुआ आ पहुँचा। लोगों ने चकित होकर देखा—यह रत्नसिंह था!

रत्नसिंह चिता के पास जाकर हाँफता हुआ बोला—"प्रिये, मैं तो अभी जीवित हूँ, यह तुमने क्या कर डाला!" चिता में आग लग चुकी थी! चिन्ता की साड़ी से अग्नि की ज्वाला निकल रही थी। रत्नसिंह उन्मत्त की भाँति चिता में घुस गया, और चिन्ता का हाथ पकड़कर उठाने लगा। लोगों ने चारों ओर से लपक-लपककर चिता की लकड़ियाँ हटानी शुरू कीं। पर चिन्ता ने पति की ओर आँख उठाकर भी न देखा, केवल हाथों से उसे हट जाने का संकेत किया।

रत्नसिंह सिर पीटकर बोला—"हाय प्रिये! तुम्हें क्या हो गया है? मेरी ओर देखती क्यों नहीं, मैं तो जीवित हूँ।"

चिता से आवाज आई—"तुम्हारा नाम रत्नसिंह है; पर तुम मेरे रत्नसिंह नहीं हो।"

"तुम मेरी तरफ़ देखो तो, मैं ही तुम्हारा दास, तुम्हारा उपासक, तुम्हारा पति हूँ।

"मेरे पति ने वीर-गति पाई।"

"हाय, कैसे समझाऊँ! अरे लोगों, किसी भाँति अग्नि को शान्त करो। मैं रत्नसिंह ही हूँ प्रिये! क्या तुम मुझे पहचानती नहीं हो?"

अग्नि-शिखा चिन्ता के मुख तक हुँच गई अग्नि में कमल खिल गया। चिन्ता स्पष्ट स्वर में बोली—"खूब पहचानती हूँ। तुम मेरे रत्नसिंह नहीं; मेरा रत्नसिंह सच्चा शूर था। वह आत्म-रक्षा के लिये, इस तुच्छ देह को बचाने के लिये, अपने क्षत्रिय-धर्म का परित्याग न कर सकता था। मैं जिस पुरुष के चरणों की दासी बनी थी, वह देवलोक में विराजमान है। रत्नसिंह को बदनाम मत करो। वह वीर राजपूत था, रण-क्षेत्र से भागने वाला कायर नहीं।"

अन्तिम शब्द निकले ही थे कि अग्नि की ज्वाला चिन्ता के सिर के ऊपर जा पहुँची। फिर एक क्षण में वह अनुपम रूप-राशि, वह आदर्श वीरता की उपासिका, वह सच्ची सती अग्नि-राशि में विलीन हो गई।

रत्नसिंह चुपचाप, हतबुद्धि-सा खड़ा यह शोकमय दृश्य

देखता रहा। फिर अचानक एक ठंडी साँस खींचकर उसी चिता में कूद पड़ा।

अभ्यास

१—'चिन्ता' ने यह क्यों कहा कि "तुम मेरे रत्नसिंह नहीं। मेरा रत्नसिंह सच्चा शूर था। वह देवलोक में विराजमान है।"

२—'चिन्ता' के ऐसी किसी इतिहासप्रसिद्ध वीर भारत-रमणी का चरित्र यदि जानते हो, लिखो।

३—निम्नलिखित अंशों का अर्थ प्रसंगनिर्देशपूर्वक लिखो—

'वह पति के शरीर के साथ नहीं, उसकी आत्मा के साथ सती हुई। उस चिता पर पति का शरीर न था, उसकी मर्यादा भस्मीभूत हो रही थी।'

'जब उषा की लोहित छबि वृक्षों की आड़ से झाँकने लगी, तो उसकी मोह-विस्मृति टूट गई। मालूम हुआ, चारों ओर शून्य है।'

'सूर्य ने अपनी लाल आँखें खोल दीं, और इन वीरों पर अपनी स्वर्णच्छटा की वर्षा करने लगा।'

४—'बिना तप के सिद्धि नहीं मिलती' इस विषय पर एक निबन्ध लिखो।

५—सूर्योदय और सूर्यास्त के वर्णन में छोटे-छोटे लेख लिखो।

मन्दिर

[१]

मातृ-प्रेम ! तुझे धन्य है। संसार में और जो कुछ है, मिथ्या है, निस्सार है। मातृ-प्रेम ही सत्य है, अक्षय है, अनश्वर है। तीन दिन से सुखिया के मुँह में अन्न का न एक दाना गया था, न पानी की एक बूँद। सामने पुआल पर माता का नन्हा-सा लाल पड़ा कराह रहा था। आज तीन दिन से उसने आँखें खोली थीं। कभी उसे गोद में उठा लेती, कभी पुआल पर सुला देती। हँसते-खेलते बालक को अचानक क्या हो गया, यह कोई नहीं बताता था। ऐसी दशा में माता को भूख और प्यास कहाँ ? एक बार पानी का एक घूँट मुँह में लिया था, पर कंठ के नीचे न ले जा सकी। इस दुखिया की विपत्ति का वारपार न था। साल भर के भीतर दो बालक गंगा की गोद में सौंप चुकी थी। पतिदेव पहले ही सिधार चुके थे। अब उस अभागिनी के जीवन का आधार, अवलम्ब जो कुछ था यही बालक था। हाय ! क्या ईश्वर इसे भी उसकी गोद से छीन लेना चाहते हैं ? यह कल्पना करते ही माता की आँखों से झरझर आँसू बहने लगते थे। इस बालक को वह एक क्षण-भर के लिये भी अकेला न छोड़ती थी। उसे साथ लेकर घास छीलने जाती। घास बेचने बाज़ार जाती तो बालक गोद में होता। उसके लिये उसने एक नन्ही-सी खुरपी

और नन्ही-सी खाँची बनवा दी थी। जियावन माता के साथ घास छीलता और गर्व से कहता—अम्मा! हमें भी बड़ी-सी खुरपी बनवा दो, हम बहुत-सी घास छीलेंगे। तुम द्वारे माची पर बैठी रहना अम्मा, मैं घास बेच लाऊँगा। माँ पूछती—हमारे लिये क्या-क्या लाओगे बेटा? जियावन लाल-लाल साड़ियों का वादा करता। अपने लिये बहुत-सा गुड़ लाना चाहता था। वे ही भोली-भोली बातें इस समय याद आ-आकर माता के हृदय को शूल के समान वेध रही थीं। जो बालक को देखता, यही कहता—किसी की डीठ है। पर किसकी डीठ है? इस विधवा का भी संसार में कोई वैरी है? अगर उसका नाम मालूम हो जाता तो सुखिया जाकर उसके चरणों पर गिर पड़ती और बालक को उसकी गोद में रख देती। क्या उसका हृदय दया से न पिघल जाता? पर नाम कोई नहीं बताता। हाय, किससे पूछे, क्या करे!!

[२]

तीन पहर रात बीत चुकी थी। सुखिया का चिन्ता-व्यथित चंचल मन कोठे-कोठे दौड़ रहा था। किस देवी की शरण जाय, किस देवता की मनौती करे, इसी सोच में पड़े-पड़े उसे एक झपकी आ गई। क्या देखती है कि उसका स्वामी आकर बालक के सिरहाने खड़ा हो जाता है और बालक के सिर पर हाथ फेरकर कहता है—रो मत सुखिया, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। कल ठाकुरजी की पूजा कर दे, वही तेरे सहाय होंगे। यह कहकर वह चला गया। सुखिया की आँख खुल

गई। अवश्य ही उसके पतिदेव आए थे, इसमें सुखिया को ज़रा भी सन्देह न हुआ। उन्हें अब भी मेरी सुधि है यह सोचकर उसका हृदय आशा से परिप्लावित हो उठा। पति के प्रति श्रद्धा और प्रेम से उसकी आँखें सजल हो गईं। उसने बालक को गोद में उठा लिया और आकाश की ओर ताकती हुई बोली--भगवन्! मेरा बालक अच्छा हो जाय, मैं तुम्हारी पूजा करूँगी। अनाथ विधवा पर दया करो।

उसी समय जियावन की आँखें खुल गईं। उसने पानी माँगा। माता ने दौड़कर कटोरे में पानी लिया और बच्चे को पिला दिया।

जियावन ने पानी पीकर कहा--अम्मा, रात है कि दिन?

सुखिया--अभी तो रात है बेटा, तुम्हारा जी कैसा है?

जियावन--अच्छा है अम्मा! अब मैं अच्छा हो गया।

सुखिया--तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर हो बेटा, भगवान् करे तुम जल्द अच्छे हो जाओ। कुछ खाने को जी चाहता है?

जियावन--हाँ अम्मा, थोड़ा-सा गुड़ दे दो।

सुखिया--गुड़ मत खाओ भैया, अवगुन करेगा। कहो तो खिचड़ी बना दूँ।

जियावन--नहीं मेरी अम्मा, ज़रा-सा गुड़ दे दो, तेरे परों पड़ूँ।

माता इस आग्रह को न टाल सकी। उसने थोड़ा-सा गुड़ निकालकर जियावन के हाथ में रख दिया और हाँड़ी का ढक्कन लगाने जा रही थी कि किसी ने बाहर से आवाज दी।

हाँड़ी वहीं छोड़कर वह किवाड़ खोलने चली गई। जियावन ने गुड़ की दो पिंडियाँ निकाल लीं और जल्दी-जल्दी चट कर गया।

[३]

दिन-भर जियावन की तबियत अच्छी रही। उसने थोड़ी-सी खिचड़ी खाई, दो-एक बार धीरे-धीरे द्वार पर भी आया और हमजोलियों के साथ खेल न सकने पर भी, उन्हें खेलते देखकर उसका जी बहल गया। सुखिया ने समझा, बच्चा अच्छा हो गया। दो-एक दिन में जब पैसे हाथ में आ जायँगे तो वह एक दिन ठाकुरजी की पूजा करने चली जायगी। जाड़े के दिन झाड़ू बहारू, नहाने-धोने और खाने-पीने में कट गए। मगर जब सन्ध्या-समय फिर जियावन का जी भारी हो गया तो सुखिया घबरा उठी। तुरत मन में शंका उत्पन्न हुई कि पूजा में विलम्ब करने से ही बालक फिर मुरझा गया है। अभी थोड़ा-सा दिन बाकी था। बच्चे को लेटाकर वह पूजा का सामान करने लगी। फूल तो ज़मीन्दार के बग़ीचे में मिल गए। तुलसी-दल द्वार ही पर था, पर ठाकुरजी के भोग के लिये कुछ मिष्टान्न तो चाहिए; नहीं तो गाँववालों को बाँटेगी क्या? चढ़ाने के लिये कम-से-कम एक आना तो चाहिए ही। सारा गाँव छान आई, कहीं पैसे उधार न मिले। तब वह हताश हो गई। हाय रे अदिन! कोई चार आने पैसे भी नहीं देता। आखिर उसने अपने

हाथों के चाँदी के कड़े उतारे और दौड़ी हुई बनिये की दूकान पर गई, कड़े गिरो रक्खे, बतासे लिए और दौड़ी हुई घर आई। पूजा का सामान तैयार हो गया तो उसने बालक को गोद में उठाया और दूसरे हाथ में पूजा की थाली लिए मन्दिर की ओर चली।

मन्दिर में आरती का घंटा बज रहा था। दस-पाँच भक्त-जन खड़े स्तुति कर रहे थे। इतने में सुखिया जाकर मन्दिर के सामने खड़ी हो गई।

पुजारी ने पूछा—क्या है रे? क्या करने आई है?

सुखिया चबूतरे पर आकर बोली—ठाकुरजी की मनौती की थी महाराज, पूजा करने आई हूँ।

पुजारीजी दिन-भर ज़मीन्दार के असामियों की पूजा किया करते थे, और शाम सवेरे ठाकुरजी की। रात को मन्दिर ही में सोते थे, मन्दिर ही में आपका भोजन भी बनता था, जिससे ठाकुरद्वारे की सारी अस्तरकारी काली पड़ गई थी। स्वभाव के बड़े दयालु थे, निष्ठावान ऐसे कि चाहे कितनी ही ठंड पड़े, कितनी ही ठंडी हवा चले बिना स्नान किए मुँह में पानी न डालते थे। अगर इसपर उनके हाथों और पैरों में मैल की मोटी तह जमी हुई थी तो इसमें उनका कोई दोष न था। बोले—तो क्या भीतर चली आवेगी? हो तो चुकी पूजा। यहाँ आकर भरभष्ट करेगी?

एक भक्त-जन ने कहा—ठाकुरजी को पवित्र करने आई है!

सुखिया ने बड़ी दीनता से कहा—ठाकुरजी के चरन छूने

आई हूँ सरकार! पूजा की सब सामग्री लाई हूँ।

पुजारी—कैसी बेसमझी की बात करती है रे, कुछ पगली तो नहीं हो गई है। भला तू ठाकुरजी को कैसे छुएगी?

सुखिया को अब तक कभी ठाकुरद्वारे में आने का अवसर न मिला था। आश्चर्य से बोली—सरकार, वह तो संसार के मालिक हैं। उनके दरसन से तो पापी भी तर जाता है, मेरे छूने से उन्हें कैसे छूत लग जायगी?

पुजारी—अरे, तू चमारिन है कि नहीं रे?

सुखिया—तो क्या भगवान ने चमारों को नहीं सिरजा है? चमारों का भगवान कोई और है? इस बच्चे की मनौती है सरकार!

इसपर उसी भक्त महोदय ने, जो अब स्तुति समाप्त कर चुके थे, डपटकर कहा—मार के भगा दो चुड़ैल को। भरभ्रष्ट करने आई है, फेंक दो थाली-वाली। संसार में तो आप ही आग लगी हुई है, चमार भी ठाकुरजी की पूजा करने लगेंगे तो पिरथी रहेगी कि रसातल को चली जायगी?

दूसरे भक्त महाशय बोले—अब बेचारे ठाकुरजी को भी चमारों के हाथ का भोजन करना पड़ेगा। अब परलय होने में कुछ कसर नहीं है।

ठंड पड़ रही थी; सुखिया खड़ी काँप रही थी और यहाँ धर्म के ठेकेदार लोग समय की गति पर आलोचनाएँ कर रहे थे। बच्चा मारे ठंड के उसकी छाती में घुसा जाता था, किन्तु सुखिया वहाँ से हटने का नाम न लेती थी। ऐसा

मालूम होता था कि उसके दोनों पाँव भूमि में गड़ गए हैं। रह-रहकर उसके हृदय में ऐसा उद्गार उठता था कि जाकर ठाकुरजी के चरणों पर गिर पड़े। ठाकुरजी क्या इन्हीं के हैं, हम गरीबों का उनसे कोई नाता नहीं है, ये लोग कौन होते हैं रोकनेवाले, पर यह भय होता था कि इन लोगों ने कहीं सचमुच थाली-वाली फेंक दी तो क्या करूँगी? दिल में ऐंठ-कर रह जाती थी। सहसा उसे एक बात सूझी। वह वहाँ से कुछ दूर जाकर एक वृक्ष के नीचे अन्धेरे में छिपकर इन भक्त-जनों के जाने की राह देखने लगी।

[४]

आरती और स्तुति के पश्चात् भक्त-जन बड़ी देर तक श्रीमद्भागवत का पाठ करते रहे। उधर पुजारीजी ने चूल्हा जलाया और खाना पकाने लगे। चूल्हे के सामने बैठे हुए 'हूँ हूँ' करते जाते थे और बीच-बीच में टिप्पणियाँ भी करते जाते थे। दस बजे रात तक कथा-वार्त्ता होती रही और सुखिया वृक्ष के नीचे ध्यानावस्था में खड़ी रही।

बारे भक्त लोगों ने एक एक करके घर की राह ली। पुजारीजी अकेले रह गए। तब सुखिया आकर मन्दिर के बरा-मदे के सामने खड़ी हो गई जहाँ पुजारीजी आसन जमाए बटलोई का क्षुधावर्द्धक मधुर संगीत सुनने में मग्न थे। पुजा-रीजी ने आहट पाकर गरदन उठाई तो सुखिया को खड़ी देखा। चिढ़कर बोले—क्यों रे तू अभी यहीं खड़ी है?

सुखिया ने थाली ज़मीन पर रख दी और एक हाथ फैला

कर भिक्षाप्रार्थना करती हुई बोली--महराजजी, मैं बड़ी अभागिनी हूँ। यही बालक मेरे जीवन का अलम है। मुझपर दया करो। तीन दिन से उसने सिर नहीं उठाया। तुम्हें बड़ा जस होगा महाराजजी!

यह कहते-कहते सुखिया रोने लगी। पुजारीजी दयालु तो थे, पर चमारिन को ठाकुरजी के समीप जाने देने का अश्रुतपूर्व, घोर पातक वह कैसे कर सकते? न-जाने ठाकुरजी इसका क्या दंड दें। आखिर उनके भी तो बाल-बच्चे थे। कहीं ठाकुरजी कुपित होकर गाँव का सर्वनाश कर दें तो, बोले–घर जाकर भगवान का नाम ले, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। मैं यह तुलसी-दल देता हूँ, बच्चे को खिला दे, चरणामृत उसकी आँखों में लगा दे। भगवान चाहेंगे तो सब अच्छा ही होगा।

सुखिया--ठाकुरजी के चरणों पर गिरने न दोगे महाराजजी? बड़ी दुखिया हूँ, उधार काढ़कर पूजा की सामग्री जुटाई है। मैंने कल सपना देखा था महाराज, कि ठाकुरजी की पुजा कर, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। तभी दौड़ी आई हूँ। मेरे पास रुपया है। वह मुझसे ले लो, पर मुझे एक छन-भर ठाकुरजी के चरणों पर गिर लेने दो।

इस प्रलोभन ने पंडितजी को एक क्षण के लिए विचलित कर दिया, किन्तु मूर्खता के कारण ईश्वर का भय उनके मन में कुछ-कुछ बाकी था। सँभलकर बोले–अरी पगली, ठाकुरजी भक्तों के मन का भाव देखते हैं कि चरन पर गिरना

देखते हैं। सुना नहीं है—'मन चंगा तो कठौत में गंगा'। मन में भक्ति न हो तो लाख कोई भगवान के चरणों पर गिरे कुछ न होगा। मेरे पास एक जन्तर है। दाम तो उसका बहुत है, पर तुझे एक ही रुपये में दे दूँगा। उसे बच्चे के गले में बाँध देना। बस, कल बच्चा खेलने लगेगा।

सुखिया—तो ठाकुरजी की पूजा न करने दोगे?

पुजारी—तेरे लिये इतनी ही पूजा बहुत है। जो बात कभी नहीं हुई वह आज मैं कर दूँ और गाँव पर कोई आफत-बिपत पड़े तो क्या हो, इसे भी तो सोच! तू यह जन्तर ले जा, भगवान चाहेंगे तो रात ही भर में बच्चे का क्लेश कट जायगा। किसी की डीठ पड़ गई है। है भी तो चोंचाल! मालूम होता है छत्तरी-बंस है।

सुखिया—जब से इसे जर आया है, मेरे प्रान नहों में समाए हुए हैं।

पुजारी—बड़ा होनहार बालक है। भगवान जिला दें, तेरे सारे संकट हर लेगा। यहाँ तो बहुत खेलने आया करता था। इधर दो-तीन दिन से नहीं देखा था।

सुखिया—तो जन्तर को कैसे बाँधूँगी महाराज?

पुजारी—मैं कपड़े में बाँधकर देता हूँ, बस गले में पहना देना। अब तू इस वेला नवीन बसतर कहाँ खोजने जायगी।

सुखिया ने दो रुपये पर कड़े गिरों रक्खे थे। एक पहले ही भँज चुका था। दूसरा पुजारीजी को भेंट किया और जन्तर लेकर मनको समझाती हुई घर लौट आई।

[५]

सुखिया ने घर पहुँचकर बालक के गले में यन्त्र बाँध दिया, पर ज्यों-ज्यों रात गुजरती थी उसका ज्वर भी बढ़ता जाता था, यहाँ तक कि तीन बजते-बजते उसके हाथ-पाँव शीतल होने लगे। तब तो वह घबड़ा उठी और सोचने लगी। हाय! मैं व्यर्थ ही संकोच में पड़ी रही और बिना ठाकुरजी के दर्शन किए चली आई। अगर मैं अन्दर चली जाती और भगवान के चरणों पर गिर पड़ती तो कोई मेरा क्या कर लेता? यही न होता, लोग मुझे धक्के देकर निकाल देते, शायद मारते भी, पर मेरा मनोरथ तो पूरा हो जाता। यदि मैं ठाकुरजी के चरणों को अपने आँसुओं से भिगो देती और बच्चे को उनके चरणों में सुला देती तो क्या उन्हें दया न आती? वह तो दयामय भगवान हैं, दीनों की रक्षा करते हैं, क्या मुझपर दया न करते? यह सोचकर सुखिया का मन अधीर हो उठा। नहीं, अब विलम्ब करने का समय न था। वह अवश्य जायगी और ठाकुरजी के चरणों पर गिरकर रोएगी। उस अबला के आशङ्कित हृदय को अब इसके सिवा और कोई अवलम्ब, कोई आश्रय न था। मन्दिर के द्वार बन्द होंगे तो वह ताले को तोड़ डालेगी। ठाकुरजी क्या किसी के हाथों बिक गए हैं कि कोई उन्हें बन्द कर रक्खे।

रात के तीन बज गए थे। सुखिया ने बालक को कम्बल से ढाँपकर गोद में उठाया, एक हाथ में थाली उठाई और मन्दिर की ओर चली। घर से बाहर निकलते ही शीतल

वायु के झोंकों से उसका कलेजा काँपने लगा। शीत से पाँव शिथिल हुए जाते थे। उसपर चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था। रास्ता दो फरलाँग से कम न था। पगडंडी वृक्षों के नीचे-नीचे गई थी। कुछ दूर दाहनी ओर एक पोखरा था, कुछ दूर बाँस की कोठियाँ। पोखरे में एक धोबी मर गया था। और बांस की कोठियों में चुड़ैलों का अड्डा था। बाँई ओर हरे-भरे खेत थे। चारों ओर सन-सन हो रहा था, अन्धकार साँय-साँय कर रहा था। सहसा गीदड़ों ने कर्कश स्वर से हुँआ-हुँआ करना शुरू किया। हाय! अगर कोई उसे एक लाख रुपये देता तो भी इस समय वह यहाँ न आती, पर बालक की ममता सारी शंकाओं को दबाए हुए थी। "हे भगवन्! अब तुम्हारा ही आसरा है!" यही जपती हुई वह मन्दिर की ओर चली जा रही थी।

मन्दिर के द्वार पर पहुँचकर सुखिया ने जंजीर टटोल कर देखी। ताला पड़ा हुआ था। पुजारीजी बरामदे से मिली हुई कोठरी में किवाड़ बन्द किए सो रहे थे। चारों ओर अन्धेरा छाया हुआ था। सुखिया चबूतरे के नीचे से एक ईंट उठा लाई और ज़ोर-ज़ोर से ताले पर पटकने लगी। उसके हाथों में न-जाने इतनी शक्ति कहाँ से आ गई थी। दो ही तीन चोटों में ताला और ईंट दोनों टूटकर चौखट पर गिर पड़े। सुखिया ने द्वार खोल दिया और अन्दर जाना ही चाहती थी कि पुजारी किवाड़ खोलकर हड़बड़ाए हुए बाहर निकल आए और 'चोर! चोर!' का गुल मचाते गाँव की

ओर दौड़े। जाड़ों में प्रायः पहर रात रहे ही लोगों की नींद खुल जाती है। यह शोर सुनते ही कई आदमी इधर-उधर से लालटेनें लिए हुए निकल पड़े और पूछने लगे—कहाँ है, कहाँ! किधर गया?

पुजारी—मन्दिर का द्वार खुला पड़ा है। मैंने खट-खट की आवाज़ सुनी।

सहसा सुखिया बरामदे से निकल चबूतरे पर आई और बोली—चोर नहीं है, मैं हूँ, ठाकुरजी की पूजा करने आई थी। अभी तो अन्दर गई भी नहीं। मार हल्ला मचा दिया।

पुजारी ने कहा—अब अनर्थ हो गया। सुखिया मन्दिर में जाकर ठाकुरजी को भ्रष्ट कर आई।

फिर क्या था, कई आदमी झल्लाए हुए लपके और सुखिया पर लातों और घूँसों की मार पड़ने लगी। सुखिया एक हाथ से बच्चे को पकड़े हुए थी और दूसरे हाथ से उसकी रक्षा कर रही थी। एकाएक एक बलिष्ठ ठाकुर ने उसे इतनी ज़ोर से धक्का दिया कि बालक उसके हाथ से छूट कर ज़मीन पर गिर पड़ा। मगर न वह रोया, न बोला, न साँस ली। सुखिया भी गिर पड़ी थी। सँभलकर बच्चे को उठाने लगी तो उसके मुख पर नज़र पड़ी। ऐसा जान पड़ा मानो पानी में परछाईं हो। उसके मुँह से एक चीख़ निकल गई। बच्चे का माथा छूकर देखा। सारी देह ठंडी हो गई थी। एक लम्बी साँस खींचकर वह उठ खड़ी हुई। उसकी

आँखों में आँसू न आए। उसका मुख क्रोध की ज्वाला से तमतमा उठा, आँखों से अंगारे बरसने लगे। दोनों मुट्ठियाँ बँध गईं। दाँत पीसकर बोली—पापियो, मेरे बच्चे के प्राण लेकर अब दूर क्यों खड़े हो? मुझे भी क्यों नहीं उसी के साथ मार डालते? मेरे छू लेने से ठाकुरजी को छूत लग गई। पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है, पारस लोहा नहीं हो जाता। मेरे छूने से ठाकुर जी अपवित्र हो जायँगे! मुझे बनाया तो छूत नहीं लगी? लो, अब कभी ठाकुरजी को छूने नहीं आऊँगी। ताले में बन्द करके रक्खो, पहरा बैठा दो। हाय! तुम्हें दया छू भी नहीं गई! तुम इतने कठोर हो! बाल-बच्चेवाले होकर भी तुम्हें एक अभागिनी माता पर दया न आई? तिसपर धरम के ठेकेदार बनते हो। तुम सब-के-सब हत्यारे हो, निपट हत्यारे हो, डरो मत, मैं थाना-पुलिस नहीं जाऊँगी, मेरा न्याय भगवान करेंगे, अब उन्हीं के दरबार में फिरियाद करूँगी।

किसी ने चूँ न की, कोई मिनमिनाया तक नहीं। पाषाण-मूर्तियों की भाँति सब-के-सब सिर झुकाए खड़े रहे।

इतनी देर में सारा गाँव जमा हो गया था। सुखिया ने एक बार फिर बालक के मुँह की ओर देखा मुँह से निकला—हाय मेरे लाल! फिर वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। प्राण निकल गए। बच्चे के लिये प्राण दे दिए!

माता, तू धन्य है! तुझ-जैसी निष्ठा, तुझ-जैसी श्रद्धा, तुझ-जैसा विश्वास देवताओं को भी दुर्लभ है!

अभ्यास

१—सुखिया की कहानी के आधार पर 'मातृ-प्रेम' पर एक निबन्ध लिखो।

२—इन शब्दों का अर्थ और शुद्ध रूप बतलाओ—भरभष्ट, चोंचाल।

३—'छत्तरी बंस' का क्या तात्पर्य है?

४—इन मुहावरों का तात्पर्य समझाओ और अपने वाक्यों में इनका प्रयोग भी करो—

प्रान नहों में समाना, आँखों से अंगारे बरसना।

५—'संसार में और जो कुछ है मिथ्या है, निस्सार है। मातृ-प्रेम ही सत्य है, अक्षय है, अनश्वर है।' उदाहरण देकर इसे सिद्ध करो।

६—अछूतों के मन्दिर-प्रवेश के विषय में लोगों के क्या विचार हैं, लिखो।

कजाकी

[१]

मेरी बाल-स्मृतियों में 'कजाकी' एक न मिटनेवाला व्यक्ति है। आज चालीस साल गुजर गए, लेकिन कजाकी की मूर्ति अभी तक आँखों के सामने नाच रही है। मैं उन दिनों अपने पिता के साथ आज़मगढ़ की एक तहसील में था। कजाकी जाति का पासी था, बड़ा ही हँसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही ज़िन्दा-दिल। वह रोज़ शाम को डाक का थैला लेकर आता, रात-भर रहता, और सवेरे डाक लेकर चला जाता। शाम को फिर उधर से डाक लेकर आ जाता। मैं दिन-भर एक उद्विग्न दशा में उसकी राह देखा करता; ज्यों ही चार बजते, व्याकुल होकर, सड़क पर आकर, खड़ा हो जाता, और थोड़ी देर में कजाकी कन्धे पर बल्लम रक्खे, उसकी झुंझुनी बजाता, दूर से दौड़ता हुआ आता दिखलाई देता। वह साँवले रंग का, गठीला, लम्बा जवान था। शरीर साँचे में ऐसा ढला हुआ कि चतुर मूर्तिकार भी उसमें कोई दोष न निकाल सकता। उसकी छोटी-छोटी मूछें उसके सुडौल चेहरे पर बहुत ही अच्छी मालूम होती थीं। मुझे देखकर वह और तेज़ दौड़ने लगता, उसकी झुंझुनी और ज़ोर से बजने लगती, और मेरे हृदय में और ज़ोर से खुशी की धड़कन होने लगती। हर्षातिरेक में मैं भी दौड़ पड़ता, और

एक क्षण में कजाकी का कन्धा मेरा सिंहासन बन जाता। वह स्थान मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग था। स्वर्ग के निवासियों को भी शायद वह आन्दोलित आनन्द न मिलता होगा, जो मुझे कजाकी के विशाल कन्धों पर मिलता था। संसार मेरी आँखों में तुच्छ हो जाता। और, जब कजाकी मुझे कन्धे पर लिए हुए दौड़ने लगता, तब तो ऐसा मालूम होता, मानो मैं हवा के घोड़े पर उड़ा जा रहा हूँ।

कजाकी डाकखाने में पहुँचता, तो पसीने से तर रहता। लेकिन आराम करने की उसकी आदत न थी। थैला रखते ही वह हम लोगों को लेकर किसी मैदान में निकल जाता, कभी हमारे साथ खेलता, कभी बिरहे गाकर सुनाता, और कभी कहानियाँ सुनाता। उसे चोरी और डाके, मार-पीट, भूत-प्रेत, की सैकड़ों कहानियाँ याद थीं। मैं ये कहानियाँ सुनकर विस्मय-पूर्ण आनन्द में मग्न हो जाता। उसकी कहानियों के चोर और डाकू सच्चे योद्धा होते थे, जो अमीरों को लूटकर दीन-दुःखी प्राणियों का पालन करते थे। मुझे उनपर घृणा के बदले श्रद्धा होती थी।

[२]

एक दिन कजाकी को डाक का थैला लेकर आने में देर हो गई। सूर्यास्त हो गया, और वह दिखलाई न दिया। मैं खोया हुआ-सा सड़क पर दूर तक आँखें फाड़-फाड़कर देखता था, पर वह परिचित रेखा न दिखलाई पड़ती थी; कान लगाकर सुनता था, पर "झुन-झुन" की वह आमोदमय

ध्वनि न सुनाई देती थी। प्रकाश के साथ मेरी आशा भी मलिन होती जाती थी। उधर से किसी को आते देखता, तो पूछता—कजाकी आता है ? पर या तो कोई सुनता ही न था, या केवल सिर हिला देता था।

सहसा "झुन-झुन" की आवाज़ कानों में आई। मुझे अँधेरे में चारों ओर भूत-ही-भूत दिखलाई देते थे, यहाँ तक कि माताजी के कमरे में ताक पर रक्खी हुई मिठाई भी अँधेरा हो जाने के बाद, मेरे लिये त्याज्य हो जाती थी। लेकिन वह आवाज़ सुनते ही मैं उसकी तरफ़ ज़ोर से दौड़ा। हाँ, वह कजाकी ही था। उसे देखते ही मेरी विकलता क्रोध में बदल गई। मैं उसे मारने लगा, फिर मान करके अलग खड़ा हो गया।

कजाकी ने हँसकर कहा—मारोगे, तो मैं एक चीज लाया हूँ, वह न दूँगा।

मैंने साहस करके कहा—जाओ, मत देना; मैं लूँगा ही नहीं।

कजाकी—अभी दिखा दूँ तो दौड़कर गोद में उठा लोगे।

मैंने पिघलकर कहा—अच्छा, दिखा दो।

कजाकी—तो आकर मेरे कन्धे पर बैठ जाओ, भाग चलूँ। आज बहुत देर हो गई। बाबूजी बिगड़ रहे होंगे।

मैंने अकड़कर कहा—पहले दिखा दो।

मेरी विजय हुई। अगर कजाकी को देर का डर न होता, और वह एक मिनट भी और रुक सकता, तो शायद पाँसा

पलट जाता। उसने कोई चीज़ दिखलाई, जिसे वह एक हाथ से छाती से चिपटाए हुए था; लम्बा मुँह था और दो आँखें चमक रही थीं।

मैंने दौड़कर उसे कजाकी की गोद से ले लिया। यह हिरन का बच्चा था। आह! मेरी उस खुशी का कौन अनुमान करेगा? तब से कठिन परीक्षाएँ पास कीं, अच्छा पद भी पाया, रायबहादुर भी हुआ; पर वह खुशी फिर न हासिल हुई। मैं उसे गोद में लिए, उसके कोमल स्पर्श का आनन्द उठाता घर की ओर दौड़ा। कजाकी को आने में क्यों इतनी देर हुई, इसका खयाल ही न रहा।

मैंने पूछा—यह कहाँ मिला कजाकी?

कजाकी—भैया, यहाँ से थोड़ी दूर पर एक छोटा-सा जंगल है। उसमें बहुत-से हिरन हैं। मेरा बहुत जी चाहता था कि कोई बच्चा मिल जाय, तो तुम्हें दूँ। आज यह बच्चा हिरनों के झुंड के साथ दिखलाई दिया! मैं झुंड की ओर दौड़ा, तो सब-के-सब भागे। यह बच्चा भी भागा; लेकिन मैंने पीछा न छोड़ा। और हिरन तो बहुत दूर निकल गए, यही पीछे रह गया। मैंने इसे पकड़ लिया। इसी से तो इतनी देर हुई।

यों बातें करते हम दोनों डाकखाने पहुँचे। बाबूजी ने मुझे न देखा, हिरन के बच्चे को भी न देखा, कजाकी ही पर उनकी निगाह पड़ी। बिगड़कर बोले—आज इतनी देर कहाँ लगाई? अब थैला लेकर आया है, उसे लेकर क्या करूँ? डाक तो चली गई। बता, तूने इतनी देर कहाँ लगाई?

मैं दौड़ा हुआ घर गया, लेकिन अम्मा जी से कुछ कहने के बदले बिलख बिलखकर रोने लगा। अम्माजी रसोई से बाहर निकलकर पूछने लगीं—क्या हुआ बेटा? किसने मारा? बाबूजी ने कुछ कहा है? अच्छा, रह तो जाओ, आज घर आते हैं, तो पूछती हूँ। जब देखो, मेरे लड़के को मारा करते हैं। चुप रहो, बेटा, अब तुम उनके पास कभी मत जाना।

मैंने बड़ी मुश्किल से आवाज़ सँभालकर कहा-कजाकी...

अम्मा ने समझा, कजाकी ने मारा है; बोली—अच्छा,आने दो कजाकी को। देखो, खड़े-खड़े निकलवा देती हूँ। हरकारा होकर मेरे राजा-बेटा को मारे! आज ही तो साफ़ा, बल्लम, सब छिनवाए लेती हूँ। वाह!

मैंने जल्दी से कहा—नहीं, कजाकी ने नहीं मारा। बाबूजी ने उसे निकाल दिया; उसका साफ़ा, बल्लम, छीन लिया—चपरास भी ले ली।

अम्मा—यह तुम्हारे बाबूजी ने बहुत बुरा किया। वह बेचारा अपने काम में चौकस रहता है। फिर उसे क्यों निकाला?

मैंने कहा—आज उसे देर हो गई थी।

यह कहकर मैंने हिरन के बच्चे को गोद से उतार दिया। घर में उसके भाग जाने का भय न था। अब तक अम्माजी की निगाह भी उसपर नहीं पड़ी थी। उसे फुदकते देखकर वह सहसा चौंक पड़ीं, और लपककर मेरा हाथ पकड़ लिया

कि कहीं वह भयंकर जीव मुझे काट न खाय ! मैं कहाँ तो फूट-फूटकर रो रहा था, और कहाँ अम्माजी की घबराहट देखकर खिलखिलाकर हँस पड़ा।

अम्मा—अरे, यह तो हिरन का बच्चा है। कहाँ मिला ?

मैंने हिरन के बच्चे का सारा इतिहास और उसका भीषण परिणाम आदि से अन्त तक कह सुनाया—अम्मा, यह इतना तेज़ भागता था कि कोई दूसरा होता, तो पकड़ ही न सकता। सन-सन, हवा की तरह, उड़ता चला जाता था। कजाकी पाँच-छः घंटे तक इसके पीछे दौड़ता रहा। तब कहीं जाकर बच्चा मिले। अम्माजी, कजाकी की तरह कोई दुनिया-भर में नहीं दौड़ सकता। इसीसे तो देर हो गई। इसलिये बाबूजीने बेचारे को निकाल दिया—चपरास, साफ़ा, बल्लम, सब छीन लिया। अब बेचारा क्या करेगा ? भूखों मर जायगा।

अम्मा ने पूछा—कहाँ है कजाकी ? ज़रा उसे बुला तो लाओ।

मैंने कहा—बाहर तो खड़ा है। कहता था कि अम्माजी से मेरा कहा-सुना माफ़ करवा देना।

अब तक अम्माजी मेरे वृत्तान्त को दिल्लगी समझ रही थीं। शायद वह समझती थीं कि बाबूजी ने कजाकी को डाँटा होगा ; लेकिन मेरा अन्तिम वाक्य सुनकर संशय हुआ कि कहीं सचमुच तो कजाकी बरख़ास्त नहीं कर दिया गया। बाहर आकर "कजाकी ! कजाकी !" पुकारने लगीं, पर कजाकी का कहीं पता न था। मैंने बार-बार पुकारा, रो-रोकर पुकारा, लेकिन कजाकी वहाँ न था।

खाना तो मैंने खा लिया—बच्चे शोक में खाना नहीं छोड़ते, खासकर जब रबड़ी भी सामने हो—मगर बड़ी रात तक पड़े-पड़े सोचता रहा—मेरे पास रुपये होते, तो एक लाख रुपये कजाकी को दे देता, और कहता—बाबूजी से कभी मत बोलना। बेचारा भूखों मर जायगा! देखें, कल आता है कि नहीं। अब क्या करेगा आकर? मगर आने को तो कह गया है। मैं कल उसे अपने साथ खाना खिलाऊँगा।

यही हवाई क़िले बनाते-बनाते मुझे नींद आ गई।

[३]

दूसरे दिन मैं दिन-भर अपने हिरन के बच्चे की सेवा-सत्कार में व्यस्त रहा। पहले उसका नामकरण-संस्कार हुआ! 'मुन्नू' नाम रक्खा गया। फिर मैंने उसका अपने सब हमजोलियों और सहपाठियों से परिचय कराया। दिन-ही-भर में वह मुझसे इतना हिल गया कि मेरे पीछे-पीछे दौड़ने लगा। इतनी ही देर में मैंने उसे अपने जीवन में एक महत्त्व-पूर्ण स्थान दे दिया। अपने भविष्य में बननेवाले विशाल भवन में उसके लिये एक अलग कमरा बनाने का भी निश्चय कर लिया, चारपाई, सैर करने की फिटन आदि की भी आयोजना कर ली।

लेकिन सन्ध्या होते ही मैं सब कुछ छोड़-छाड़कर सड़क पर जा खड़ा हुआ, और कजाकी की बाट जोहने लगा। जानता था, कजाकी निकाल दिया गया है, अब उसे यहाँ

आने की कोई ज़रूरत नहीं रही। फिर भी न-जाने क्यों मुझे यह आशा हो रही थी कि वह आ रहा है। एकाएक मुझे ख्याल आया कि कजाकी भूखों मर रहा होगा। मैं तुरन्त घर आया। अम्मा दिया-बत्ती कर रही थीं। मैंने चुपके से एक टोकरी में आटा निकाला, और आटा हाथों में लपेटे, टोकरी से गिरते हुए आटे की एक लकीर बनाता हुआ, भागा। आकर सड़क पर खड़ा हुआ ही था कि कजाकी सामने से आता दिखलाई दिया। उसके पास बल्लम भी था, कमर में चपरास भी थी, सिर पर साफ़ा भी बँधा हुआ था। बल्लम में डाक का थैला भी बँधा हुआ था। मैं दौड़कर उसकी कमर से चिमट गया, और विस्मित होकर बोला—तुम्हें चपरास और बल्लम कहाँ से मिल गया, कजाकी?

कजाकी ने मुझे उठाकर कन्धे पर बैठालते हुए कहा—वह चपरास किस काम की थी, भैया। वह तो गुलामी की चपरास थी। यह अपनी खुशी की चपरास है। पहले सरकार का नौकर था, अब तुम्हारा नौकर हूँ।

यह कहते-कहते उसकी निगाह टोकरी पर पड़ी, जो वहीं रक्खी थी, बोला—यह आटा कैसा है, भैया?

मैंने सकुचाते हुए कहा—तुम्हारे ही लिये तो लाया हूँ। तुम भूखे होगे। आज क्या खाया होगा?

कजाकी की आँखें तो मैं न देख सका, उसके कन्धे पर बैठा हुआ था, हाँ, उसकी आवाज़ से मालूम हुआ कि उसका गला भर आया है। बोला—भैया, क्या रूखी रोटियाँ

खाऊँगा ? दाल, नमक, घी—और तो कुछ नहीं है।

मैं अपनी भूल पर बहुत लज्जित हुआ। सच तो है, बेचारा रूखी रोटियाँ कैसे खायगा ? लेकिन नमक, दाल, घी कैसे लाऊँ ? अब तो अम्मा चौके में होंगी। आटा लेकर तो किसी तरह भाग आया था (अभी तक मुझे न मालूम था कि मेरी चोरी पकड़ ली गई ; आटे की लकीर ने सुराग़ दे दिया है।) अब ये तीन-तीन चीजें कैसे लाऊँगा ? अम्मा से माँगूँगा, तो कभी न देंगी। एक-एक पैसे के लिये तो घंटों रुलाती हैं, इतनी सारी चीज़ें क्यों देने लगीं ? एकाएक मुझे एक बात याद आई। मैंने अपनी किताबों के बस्ते में कई आने पैसे रख छोड़े थे। मुझे पैसे जमा करके रखने में बड़ा आनन्द आता था। मालूम नहीं, अब वह आदत क्यों बदल गई। अब भी वही हालत होती, तो शायद इतना फ़ाक़ेमस्त न रहता। बाबूजी मुझे प्यार तो कभी न करते थे ; पर पैसे खूब देते थे ; शायद अपने काम में व्यस्त रहने के कारण, मुझसे पिंड छुड़ाने के लिये, इसी नुस्खे को सबसे आसान समझते थे। इनकार करने में मेरे रोने और मचलने का भय था। इस बाधा को वह दूर ही से टाल देते थे। अम्माजी का स्वभाव इससे ठीक प्रतिकूल था। उन्हें मेरे रोने और मचलने से किसी काम में बाधा पड़ने का भय न था। आदमी लेटे-लेटे दिन-भर रोना सुन सकता है ; हिसाब लगाते हुए ज़ोर की आवाज़ से भी ध्यान बँट जाता है। अम्मा मुझे प्यार तो बहुत करती थीं, पर पैसे का नाम सुनते ही उनकी त्योरियाँ बदल जाती थीं। मेरे

पास किताबें न थीं; हाँ, एक बस्ता था, जिसमें डाकखाने के दो-चार फ़ार्म तह करके पुस्तक के रूप में रक्खे हुए थे। मैंने सोचा, दाल, नमक और घी के लिये क्या उतने पैसे काफी न होंगे? मेरी तो मुट्ठी में नहीं आते। यह निश्चय करके मैंने कहा--अच्छा, मुझे उतार दो, तो मैं दाल और नमक ला दूँ। मगर रोज़ आया करोगे न?

कजाकी—भैया, खाने को दोगे, तो क्यों न आऊँगा?

मैंने कहा—मैं रोज़ खाने को दूँगा।

कजाकी बोला—तो मैं भी रोज़ आऊँगा।

मैं नीचे उतरा, और दौड़कर अपनी सारी पूँजी उठा लाया। कजाकी को रोज़ बुलाने के लिये उस वक्त मेरे पास कोहेनूर हीरा भी होता, तो उसकी भेंट करने में मुझे पसो-पेश न होता।

कजाकी ने विस्मित होकर पूछा—ये पैसे कहाँ पाए, भैया?

मैंने गर्व से कहा—मेरे ही तो हैं।

कजाकी—तुम्हारी अम्माजी तुमको मारेंगी; कहेंगी, कजाकी ने फुसलाकर मँगवा लिए होंगे। भैया, इन पैसों की मिठाई ले लेना, और आटा मटके में रख देना। मैं भूखों नहीं मरता। मेरे दो हाथ हैं। मैं भला भूखों मर सकता हूँ!

मैंने बहुत कहा कि पैसे मेरे हैं, लेकिन कजाकी ने न लिए। उसने बड़ी देर तक इधर-उधर की सैर कराई, गीत सुनाए, और मुझे घर पहुँचाकर चला गया। मेरे द्वार पर आटे की टोकरी भी रख दी।

मैंने घर में क़दम रक्खा ही था कि अम्माजी ने डाँटकर कहा—क्यों रे चोर, तू आटा कहाँ ले गया था ? अब चोरी करना सीखता है ! बता, किसको आटा दे आया, नहीं तो तेरी खाल उधेड़कर रख दूँगी।

मेरी नानी मर गई। अम्मा क्रोध में सिंहिनी हो जाती थीं। सिटपिटाकर बोला—किसी को तो नहीं दिया।

अम्मा—तूने आटा नहीं निकाला ? देख, कितना आटा सारे आँगन में बिखरा पड़ा है ?

मैं चुप खड़ा था। वह कितना ही धमकाती थीं, चुमकारती थीं, पर मेरी ज़बान न खुलती थी। आनेवाली विपत्ति के भय से प्राण सूख रहे थे। यहाँ तक कहने की हिम्मत न पड़ती थी कि बिगड़ती क्यों हो, आटा तो द्वार पर रक्खा हुआ है। न उठाकर लाते ही बनता था, मानो क्रिया-शक्ति ही लुप्त हो गई हो—मानो पैरों में हिलने की सामर्थ्य ही नहीं।

सहसा कजाकी ने पुकारा—बहूजी, आटा यह द्वार पर रक्खा हुआ है। भैया मुझे देने को ले गए थे।

यह सुनते ही अम्मा द्वार की ओर चली गईं। कजाकी से वह परदा न करती थीं। उन्होंने कजाकी से कोई बात की या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता; लेकिन अम्माजी ख़ाली टोकरी लिए हुए घर में आईं। फिर कोठरी में जाकर संदूक से कुछ निकाला, और द्वार की ओर गईं। मैंने देखा, उनकी मुट्ठी बन्द थी। अब मुझसे वहाँ खड़े न रहा गया।

अम्माजी के पीछे-पीछे मैं भी गया। अम्मा ने द्वार पर कई

बार पुकारा, मगर कजाकी चला गया था।

मैंने बड़ी वीरता से कहा—मैं जाकर खोज लाऊँ अम्माजी!' अम्माजी ने किवाड़े बन्द करते हुए कहा—तुम अँधेरे में कहाँ जाओगे, अभी तो खड़ा था। मैंने कहा, यहीं रहना; मैं आती हूँ। तब तक न-जाने कहाँ खिसक गया। बड़ा संकोची है। आटा तो लेता ही न था। मैंने ज़बरदस्ती उसके अँगोछे में बाँध दिया। मुझे तो बेचारे पर बड़ी दया आती है। न जाने बेचारे के घर में कुछ खाने को है कि नहीं। रुपये लाई थी कि दे दूँगी; पर न-जाने कहाँ चला गया। अब तो मुझे भी साहस हुआ। मैंने अपनी चोरी की पूरी कथा कह डाली। बच्चों के साथ समझदार बच्चे बनकर मा-बाप उनपर जितना असर डाल सकते हैं, जितनी शिक्षा दे सकते हैं, उतनी बूढ़े बनकर नहीं।

अम्माजी ने कहा—तुमने मुझसे पूछ क्यों न लिया? क्या मैं कजाकी को थोड़ा-सा आटा न दे देती?

मैंने इसका कोई उत्तर न दिया। दिल में कहा, इस वक्त तुम्हें कजाकी पर दया आ गई है, जो चाहो दे डालो; लेकिन मैं माँगता, तो मारने दौड़तीं। हाँ, यह सोचकर चित्त प्रसन्न हुआ कि अब कजाकी भूखों न मरेगा। अम्माजी उसे रोज़ खाने को देंगी, और वह रोज़ मुझे कन्धे पर बिठाकर सैर करावेगा।

दूसरे दिन मैं दिन-भर मुन्नू के साथ खेलता रहा। शाम को सड़क पर जाकर खड़ा हो गया। मगर अँधेरा हो गया;

और कजाकी का कहीं पता नहीं। दिये जल गए, रास्ते में सन्नाटा छा गया; पर कजाकी न आया।

मैं रोता हुआ घर आया। अम्माजी ने पूछा—क्यों रोते हो बेटा? क्या कजाकी नहीं आया?

मैं और ज़ोर से रोने लगा। अम्माजी ने मुझे छाती से लगा लिया। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि उनका कंठ भी गद्गद् हो गया है।

उन्होंने कहा—बेटा चुप हो जाओ। मैं कल किसी हरकारे को भेजकर कजाकी को बुलवाऊँगी।

मैं रोते-ही-रोते सो गया। सवेरे ज्यों ही आँख खुली, मैंने अम्माजी से कहा—कजाकी को बुलवा दो।

अम्मा ने कहा—आदमी गया है बेटा; कजाकी आता होगा। मैं खुश होकर खेलने लगा। मुझे मालूम था कि अम्माजी जो बात कहती हैं, उसे पूरा ज़रूर करती हैं। उन्होंने सवेरे ही हरकारे को भेज दिया था। दस बजे जब मैं मुन्नू को लिये हुए घर आया, तो मालूम हुआ कि कजाकी अपने घर पर नहीं मिला। वह रात को भी घर न गया था। उसकी स्त्री रो रही थी कि न-जाने कहाँ चले गए। उसे भय था कि वह कहीं भाग गया है।

बालकों का हृदय कितना कोमल होता है, इसका अनुमान दूसरा नहीं कर सकता। उनमें अपने भावों को व्यक्त करने के लिये शब्द नहीं होते। उन्हें यह भी ज्ञात नहीं होता कि कौन-सी बात उन्हें विकल कर रही है, कौन-सा-काँटा उनके

हृदय में खटक रहा है, क्यों बार-बार उन्हें रोना आता है, क्यों वे मन-मारे बैठे रहते हैं, खेलने में जी नहीं लगता। मेरी भी यही दशा थी। कभी घर में आता, कभी बाहर जाता, कभी सड़क पर जा पहुँचता। आँखें कजाकी को ढूँढ़ रही थीं। वह कहाँ चला गया? कहीं भाग तो नहीं गया!

तीसरे पहर को मैं खोया हुआ-सा सड़क पर खड़ा था। सहसा मैंने कजाकी को एक गली में देखा। हाँ, वह कजाकी ही था। मैं उसकी ओर चिल्लाता हुआ दौड़ा। पर गली में उसका पता न था, न-जाने किधर ग़ायब हो गया। मैंने गली के इस सिरे से उस सिरे तक देखा; मगर कहीं कजाकी की गन्ध तक न मिली।

घर आकर मैंने अम्माजी से यह बात कही। मुझे ऐसा जान पड़ा कि वह यह बात सुनकर बहुत चिन्तित हो गईं।

इसके बाद दो-तीन दिन तक कजाकी न दिखलाई दिया। मैं भी अब उसे कुछ-कुछ भूलने लगा। बच्चे पहले जितना प्रेम करते हैं, बाद को उतने ही निष्ठुर भी हो जाते हैं; जिस खिलौने पर प्राण देते हैं, उसी को दो-चार दिन के बाद पटककर फोड़ भी डालते हैं।

दस-बारह दिन और बीत गए। दोपहर का समय था। बाबूजी खाना खा रहे थे। मैं मुन्नू के पैरों में पीनस की पैजनियाँ बाँध रहा था। एक औरत घूँघट निकाले हुए आई, और आँगन में खड़ी हो गई। उसके कपड़े फटे हुए और मैले

थे; पर गोरी, सुन्दर स्त्री थी। उसने मुझसे पूछा—भैया, बहूजी कहाँ हैं?

मैंने उसके पास जाकर उसका मुँह देखते हुए कहा—तुम कौन हो—क्या बेचती हो?

औरत—कुछ बेचती नहीं हूँ, तुम्हारे लिये ये कमलगट्टे लाई हूँ भैया। तुम्हें तो कमलगट्टे बहुत अच्छे लगते हैं न?

मैंने उसके हाथों से लटकती हुई पोटली को उत्सुक नेत्रों से देखकर पूछा—कहाँ से लाई हो? देखें!

औरत—तुम्हारे हरकारे ने भेजा है भैया।

मैंने उछलकर पूछा—कजाकी ने?

औरत ने सिर हिलाकर "हाँ" कहा, और पोटली खोलने लगी। इतने में अम्माजी भी रसोई से निकल आईं। उसने अम्मा के पैरों को स्पर्श किया। अम्मा ने पूछा—तू कजाकी की घरवाली है?

औरत ने सिर झुका लिया।

अम्मा—आजकल कजाकी क्या करता है?

औरत ने रोकर कहा—बहूजी, जिस दिन से आपके पास से आटा लेकर गए हैं, उसी दिन से बीमार पड़े हैं। बस, भैया-भैया किया करते हैं। भैया ही में उनका मन बसा रहता है। चौंक-चौंककर "भैया"! "भैया"! कहते हुए द्वार की ओर दौड़ते हैं। न-जाने उन्हें क्या हो गया है बहूजी। एक दिन मुझसे कुछ कहा-न-सुना, घर से चल दिए, और एक गली में छिपकर भैया को देखते रहे। जब भैया ने उन्हें

देख लिया, तो भागे। तुम्हारे पास आते हुए लजाते हैं।

मैंने कहा–हाँ,हाँ, मैंने उस दिन तुमसे जो कहा था अम्मा जी।

अम्मा—घर में कुछ खाने-पीने को है ?

औरत—हाँ बहूजी, तुम्हारे आसिरवाद से खाने-पीने का दुख नहीं है। आज सबेरे उठे, और तालाब की ओर चले गए। बहुत कहती रही, बाहर मत जाओ, हवा लग जायगी ; मगर न माना। मारे कमजोरी के पर काँपने लगते हैं। मगर तालाब में घुसकर ये कमलगट्टे तोड़ लाए। तब मुझसे कहा, ले जा, भैया को दे आ। उन्हें कमलगट्टे बहुत अच्छे लगते हैं। कुसल-छेम पूछती आना।

मैंने पोटली से कमलगट्टे निकाल लिए थे, और मज़े से चख रहा था। अम्मा ने बहुत आँखें दिखाईं, मगर यहाँ इतना सब्र कहाँ !

अम्मा ने कहा—कह देना सब कुशल है।

मैंने कहा—यह भी कह देना कि भैया ने बुलाया है। न जाओगे तो फिर तुमसे कभी न बोलेंगे, हाँ !

बाबूजी खाना खाकर निकल आए थे। तौलिये से हाथ-मुँह पोंछते हुए बोले--और यह भी कह देना कि साहब ने तुमको बहाल कर दिया है। जल्दी जाओ, नहीं तो कोई दूसरा आदमी रख लिया जायगा।

औरत ने अपना कपड़ा उठाया और चली गई। अम्मा ने बहुत पुकारा ; पर वह न रुकी। शायद अम्माजी उसे सीधा देना चाहती थीं।

अम्मा ने पूछा--सचमुच बहाल हो गया ?

बाबूजी—और क्या झूठे ही बुला रहा हूँ। मैंने तो पाँचवें ही दिन उसकी बहाली की रिपोर्ट की थी।

अम्मा--यह तुमने बहुत अच्छा किया।

बाबूजी--उसकी बीमारी की यही दवा है।

[४]

प्रातःकाल मैं उठा, तो क्या देखता हूँ ! कजाकी लाठी टेकता हुआ चला आ रहा है। वह बहुत दुबला हो गया था। मालूम होता था, बूढ़ा हो गया है। हरा-भरा पेड़ सूख कर ठूँठ हो गया था। मैं उसकी ओर दौड़ा, और उसकी कमर से चिमट गया। कजाकी ने मेरे गाल चूमे, और मुझे उठाकर कन्धे पर बैठाने की चेष्टा करने लगा। पर मैं न उठ सका। तब वह जानवरों की भाँति भूमि पर हाथों और घुटनों के बल खड़ा हो गया, और मैं उसकी पीठ पर सवार होकर डाकखाने की ओर चला। मैं उस वक्त फूला न समाता था, और शायद कजाकी मुझसे भी ज्यादा खुश था।

बाबूजी ने कहा—कजाकी, तुम बहाल हो गए। अब कभी देर न करना।

कजाकी रोता हुआ पिताजी के पैरों पर गिर पड़ा। मगर शायद मेरे भाग्य में दोनों सुख भोगना न लिखा था—मुन्नू मिला, तो कजाकी छूटा; कजाकी आया, तो मुन्नू हाथ से गया, और ऐसा गया कि आज तक उसके जाने का दुःख

है। मुन्नू मेरी ही थाली में खाता था। जब तक मैं खाने न बैठूँ, वह भी कुछ न खाता था। उसे भात से बहुत ही रुचि थी, लेकिन जब तक खूब घी न पड़ा हो, उसे सन्तोष न होता था। वह मेरे ही साथ सोता भी था, और मेरे ही साथ उठता भी। सफाई तो उसे इतनी पसन्द थी कि मल-मूत्र त्याग करने के लिये घर से बाहर मैदान में निकल जाता था। कुत्तों से उसे चिढ़ थी। कुत्तों को घर में न घुसने देता। कुत्ते को देखते ही थाली से उठ जाता और उसे दौड़ाकर घर से बाहर निकाल देता था।

कजाकी को डाकखाने में छोड़कर जब मैं खाना खाने गया, तो मुन्नू भी आ बैठा। अभी दो-चार ही कौर खाए थे कि एक बड़ा-सा झबरा कुत्ता आँगन में दिखाई दिया। मुन्नू उसे देखते ही दौड़ा। दूसरे घर में जाकर कुत्ता चूहा हो जाता है। झबरा कुत्ता उसे आते देखकर भागा। मुन्नू को अब लौट आना चाहिए था। मगर वह कुत्ता उसके लिये यमराज का दूत था। मुन्नू को उसे घर से निकाल कर ही सन्तोष न हुआ। वह उसे घर से बाहर मैदान में भी दौड़ाने लगा। मुन्नू को शायद खयाल न रहा कि यहाँ मेरी अमलदारी नहीं है। वह उस क्षेत्र में पहुँच गया था, जहाँ झबरे का भी उतना ही अधिकार था, जितना मुन्नू का। मुन्नू कुत्तों को भगाते भगाते कदाचित् अपने बाहुबल पर घमंड करने लगा था। वह यह न समझता था कि घर में उसकी पीठ पर घर के स्वामी का भय काम किया करता है। झबरे ने इस मैदान

में आते ही उलटकर मुन्नू की गरदन दबा दी। बेचारे मुन्नू के मुँह से आवाज तक न निकली। जब पड़ोसियों ने शोर मचाया, तो मैं दौड़ा। देखा, तो मुन्नू मरा पड़ा है, और झवरे का कहीं पता नहीं।

अभ्यास

१—माँ-बाप के आचरण का प्रभाव बच्चों पर क्या पड़ता है ?

२—इस कहानी से तुम्हें कौन-कौन सी शिक्षाएँ मिलती हैं ?

३—कजाकी के शिशु-प्रेम और ईमानदारी का वर्णन और आलोचना करो।

४—फाकेमस्त रहना, त्यौरियाँ बदल जाना, फूला न समाना, पाँसा पलट जाना, का अर्थ बतलाओ और इनका प्रयोग अपने वाक्यों में करो।

क्षमा

[१]

मुसलमानों को स्पेन-देश पर राज्य करते कई शताब्दियाँ बीत चुकी थीं। कलीसाओं की जगह मसजिदें बनती जाती थीं; घंटों की जगह अज़ान की आवाज़ें सुनाई देती थीं। ग़र-नाता और अलहमरा में वे समय की नश्वर गति पर हँसनेवाले प्रासाद बन चुके थे, जिनके खँडहर अब तक देखनेवालों को अपने पूर्व ऐश्वर्य की झलक दिखाते हैं। ईसाइयों के गण्य-मान्य स्त्री और पुरुष मसीह की शरण छोड़कर इसलामी भ्रातृत्व में सम्मिलित होते जाते थे, और आज तक इतिहासकारों को यह आश्चर्य है कि ईसाइयों का निशान वहाँ क्योंकर बाकी रहा। जो ईसाई-नेता अब तक मुसलमानों के सामने सिर न झुकाते थे, और अपने देश में स्वराज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे, उनमें एक सौदागर दाऊद भी था। दाऊद विद्वान् और साहसी था। वह अपने इलाके में इसलाम को कदम न जमाने देता था। दीन और निर्धन ईसाई विद्रोही देश के अन्य प्रान्तों से आकर उसके शरणागत होते थे और वह बड़ी उदारता से उनका पालन-पोषण करता था। मुसलमान दाऊद से सशंक रहते थे। वे धर्म-बल से उसपर विजय न पाकर उसे शस्त्र-बल से परास्त करना चाहते थे। पर दाऊद कभी उनका सामना न करता। हाँ, जहाँ कहीं ईसाइयों के मुसलमान होने की ख़बर पाता, वहाँ

हवा की तरह पहुँच जाता, और तर्क या विनय से उन्हें अपने धर्म पर अचल रहने की प्रेरणा करता। अन्त में मुसलमानों ने चारों तरफ़ से घेरकर उसे गिरफ़्तार करने की तैयारी की। सेनाओं ने उसके इलाके को घेर लिया। दाऊद को प्राण-रक्षा के लिये अपने सम्बन्धियों के साथ भागना पड़ा। वह घर से भागकर ग़रनाता में आया, जहाँ उन दिनों इसलामी राजधानी थी। वहाँ सबसे अलग रहकर वह अच्छे दिनों की प्रतीक्षा में जीवन व्यतीत करने लगा। मुसलमानों के गुप्तचर उसका पता लगाने के लिये बहुत सिर मारते थे, उसे पकड़ लाने के लिये बड़े-बड़े इनामों की विज्ञप्ति निकाली जाती थी, पर दाऊद की टोह न मिलती थी।

[२]

एक दिन एकान्त-वास से उकताकर दाऊद ग़रनाता के एक बाग में सैर करने चला गया। सन्ध्या हो गई थी। मुसलमान नीची अबाएँ पहने, बड़े-बड़े अमामे सिर पर बाँधे, कमर में तलवार लटकाए रविशों में टहल रहे थे। स्त्रियाँ सफेद बुरक़े ओढ़े, ज़री की जूतियाँ पहने बेंचों और कुर्सियों पर बैठी हुई थीं। दाऊद सबसे अलग हरी-हरी घास पर लेटा हुआ सोच रहा था कि वह दिन कब आवेगा, जब हमारी जन्मभूमि इन अत्याचारों के पंजे से छूटेगी! वह अतीत काल की कल्पना कर रहा था, जब ईसाई स्त्री और पुरुष इन रविशों में टहलते होंगे, जब यह स्थान ईसाइयों के परस्पर वाग्विलास से गुलज़ार होगा।

सहसा एक मुसलमान युवक आकर दाऊद के पास बैठ गया। वह इसे सिर से पाँव तक अपमान-सूचक दृष्टि से देखकर बोला--क्या अभी तक तुम्हारा हृदय इसलाम की ज्योति से प्रकाशित नहीं हुआ?

दाऊद ने गम्भीर भाव से कहा—इसलाम की ज्योति पर्वत-शृंगों को प्रकाशित कर सकती है; अँधेरी घाटियों में उसका प्रवेश नहीं हो सकता।

उस मुसलमान अरबी का नाम जमाल था। यह आक्षेप सुनकर तीखे स्वर में बोला—इससे तुम्हारा क्या मतलब है?

दाऊद--इससे मेरा मतलब यही है कि ईसाइयों में जो लोग उच्च श्रेणी के हैं, वे जागीरों और राज्याधिकारों के लोभ तथा राजदंड के भय से इसलाम की शरण आ सकते हैं; पर दुर्बल और दीन ईसाइयों के लिये इसलाम में वह आसमान की बादशाहत कहाँ है, जो हज़रत मसीह के दामन में उन्हें नसीब होगी! इसलाम का प्रचार तलवार के बल से हुआ है, सेवा के बल से नहीं।

जमाल अपने धर्म का अपमान सुनकर तिलमिला उठा। गरम होकर बोला--यह सर्वथा मिथ्या है। इसलाम की शक्ति उसका आन्तरिक भ्रातृत्व और साम्य है, तलवार नहीं।

दाऊद--इसलाम ने धर्म के नाम पर जितना रक्त बहाया है, उसमें उसकी सारी मसजिदें डूब जायँगी।

जमाल—तलवार ने सदा सत्य की रक्षा की है।

दाऊद ने अविचलित भाव से कहा—जिसको तलवार का आश्रय लेना पड़े, वह सत्य ही नहीं।

जमाल जातीय गर्व से उन्मत्त होकर बोला—जब तक मिथ्या के भक्त रहेंगे, तब तक तलवार को ज़रूरत भी रहेगी।

दाऊद—तलवार का मुँह ताकनेवाला सत्य ही मिथ्या है।

अरब ने तलवार के क़ब्जे पर हाथ रखकर कहा—खुदा की क़सम, अगर तुम निहत्थे न होते, तो तुम्हें इसलाम की तौहीन करने का मज़ा चखा देता।

दाऊद ने अपनी छाती में छिपाई हुई कटार निकालकर कहा—नहीं, मैं निहत्था नहीं हूँ। मुसलमानो पर जिस दिन इतना विश्वास करूँगा, उस दिन ईसाई न रहूँगा। तुम अपने दिल के अरमान निकाल लो।

दोनों ने तलवारें खींच लीं। एक दूसरे पर टूट पड़े। अरब की भारी तलवार ईसाई की हलकी कटार के सामने शिथिल हो गई। एक सर्प की भाँति फन से चोट करती थी, दूसरी नागिन की भाँति उड़ती थी। एक लहरों की भाँति लपकती थी, दूसरी जल की मछलियों की भाँति चमकती थी। दोनों योद्धाओं में कुछ देर तक चोटें होती रहीं। सहसा एक बार नागिन उछलकर अरब के अन्तस्तल में जा पहुँची। वह भूमि पर गिर पड़ा।

[३]

जमाल के गिरते ही चारों तरफ़ से लोग दौड़ पड़े। वे दाऊद को घेरने की चेष्टा करने लगे। दाऊद ने देखा, लोग तलवारें लिए दौड़े चले आ रहे हैं। प्राण लेकर भागा। पर जिधर जाता था, सामने बाग़ की दीवार रास्ता रोक लेती थी। दीवार ऊँची थी, उसे फाँदना मुश्किल था। यह जीवन और मृत्यु का संग्राम था। कहीं शरण की आशा नहीं, कहीं छिपने का स्थान नहीं। उधर अरबों की रक्त-पिपासा प्रतिक्षण तीव्र होती जाती थी। यह केवल एक अपराधी को दंड देने की चेष्टा न थी। जातीय अपमान का बदला था। एक विजित ईसाई की यह हिम्मत कि अरब पर हाथ उठावे! ऐसा अनर्थ!

जिस तरह पीछा करनेवाले कुत्तों के सामने गिलहरी इधर-उधर दौड़ती है, किसी वृक्ष पर चढ़ने की बार-बार चेष्टा करती है, पर हाथ-पाँव फूल जाने के कारण बार-बार गिर पड़ती है, वही दशा दाऊद की थी।

दौड़ते-दौड़ते उसका दम फूल गया; पैर मन-मन भर के हो गए। कई बार जी में आया, इन सबपर टूट पड़ूँ, और जितने महँगे प्राण बिक सकें, उतने महँगे बेचूँ। पर शत्रुओं की संख्या देखकर हतोत्साह हो जाता था।

'लेना, दौड़ना, पकड़ना' का शोर मचा हुआ था। कभी-कभी पीछा करनेवाले इतने निकट आ जाते थे कि मालूम होता था, अब संग्राम का अन्त हुआ, वह तलवार पड़ी; पर

परों की एक ही गति, एक कावा, एक कन्नी उसे खून की प्यासी तलवारों से बाल-बाल बचा लेती थी।

दाऊद को इस संग्राम में खिलाड़ियों का-सा आनन्द आने लगा। यह निश्चय था कि उसके प्राण नहीं बच सकते, मुसलमान दया करना नहीं जानते, इसलिये उसे अपने दाव-पेंच में मज़ा आ रहा था। किसी वार से बचकर उसे अब इसकी खुशी न होती थी कि उसके प्राण बच गए, बल्कि इसका आनन्द होता था कि उसने क़ातिल को कैसा ज़िच किया।

सहसा उसे अपनी दाहिनी ओर बाग़ की दीवार कुछ नीची नज़र आई। आह! यह देखते ही उसके पैरों में एक नयी शक्ति का संचार हो गया, धमनियों में नया रक्त दौड़ने लगा। वह हिरन की तरह उस तरफ़ दौड़ा और एक छलाँग में बाग के उस पार पहुँच गया। ज़िन्दगी और मौत में सिर्फ़ एक क़दम का फ़ासला था। पीछे मृत्यु थी, और आगे जीवन का विस्तृत क्षेत्र। जहाँ तक दृष्टि जाती थी, झाड़ियाँ ही नज़र आती थीं। ज़मीन पथरीली थी, कहीं ऊँची, कहीं नीची। जगह-जगह पत्थर की शिलाएँ पड़ी हुई थीं। दाऊद एक शिला के नीचे छिप कर बैठ गया।

दम-भर में पीछा करनेवाले भी वहाँ आ पहुँचे, और इधर-उधर झाड़ियों में, वृक्षों पर, गड्ढों में, शिलाओं के नीचे तलाश करने लगे। एक अरब उस चट्टान पर आकर खड़ा हो गया, जिसके नीचे दाऊद छिपा हुआ था। दाऊद का कलेजा धकधक कर रहा था। अब जान गई! अरब ने ज़रा नीचे

को झाँका और प्राणों का अन्त हुआ! संयोग-केवल संयोग पर अब उसका जीवन निर्भर था। दाऊद ने साँस रोक ली, सन्नाटा खींच लिया। एक निगाह पर उसकी ज़िन्दगी का फैसला था। ज़िन्दगी और मौत में कितना सामीप्य है!

मगर अरबों को इतना अवकाश कहाँ था कि वे सावधान होकर शिला के नीचे देखते। वहाँ तो हत्यारे को पकड़ने की जल्दी थी। दाऊद के सिर से बला टल गई। वे इधर-उधर ताक-झाँककर आगे बढ़ गए।

[४]

अँधेरा हो गया। आकाश में तारागण निकल आए, और तारों के साथ दाऊद भी शिला के नीचे से निकला। लेकिन देखा, तो उस समय भी चारों तरफ़ हलचल मची हुई है, शत्रुओं का दल मशालें लिए झाड़ियों में घूम रहा है; नाकों पर भी पहरा है, कहीं निकल भागने का रास्ता नहीं है। दाऊद एक वृक्ष के नीचे खड़ा होकर सोचने लगा कि अब क्योंकर जान बचे। उसे अपनी जान की वैसी परवा न थी। वह जीवन के सुख-दुःख सब भोग चुका था। अगर उसे जीवन की लालसा थी, तो केवल यही देखने के लिये कि इस संग्राम का अन्त क्या होगा। मेरे देशवासी हतोत्साह हो जायँगे, या अदम्य धैर्य के साथ संग्राम-क्षेत्र में अटल रहेंगे।

जब रात अधिक बीत गई, और शत्रुओं की घातक चेष्टा कुछ कम न होती देख पड़ी, तो दाऊद खुदा का नाम लेकर झाड़ियों से निकला, और दबे-पाँव, वृक्षों की आड़ में, आद-

मियों की नज़रें बचाता हुआ, एक तरफ़ को चला। वह इन झाड़ियों से निकलकर बस्ती में पहुँच जाना चाहता था। निर्जनता किसी की आड़ नहीं कर सकती। बस्ती का जन-बाहुल्य स्वयं आड़ है।

कुछ दूर तक तो दाऊद के मार्ग में कोई बाधा न उपस्थित हुई, वन के वृक्षों ने उसकी रक्षा की; किन्तु जब वह असमतल भूमि से निकलकर समतल भूमि पर आया, तो एक अरब की निगाह उसपर पड़ गई। उसने ललकारा। दाऊद भागा। क़ातिल भागा जाता है! यह आवाज़ हवा में एक ही बार गूँजी, और क्षण-भर में चारों तरफ़ से अरबों ने उसका पीछा किया। सामने बहुत दूर तक आबादी का नामोनिशान न था। बहुत दूर पर एक धुँधला-सा दीपक टिमटिमा रहा था। किसी तरह वहाँ तक पहुँच जाऊँ! वह उस दीपक की ओर इतनी तेज़ी से दौड़ रहा था, मानो वहाँ पहुँचते ही अभय पा जायगा। आशा उसे उड़ाए लिए जाती थी। अरबों का समूह पीछे छूट गया, मशालों की ज्योति निष्प्रभ हो गई। केवल तारागण उसके साथ दौड़े चले आते थे। अन्त को वह आशा-मय दीपक सामने आ पहुँचा। एक छोटा-सा फूस का मकान था। एक बूढ़ा अरब ज़मीन पर बैठा हुआ, रेहल पर कुरान रक्खे उसी दीपक के मन्द प्रकाश में पढ़ रहा था। दाऊद आगे न जा सका। उसकी हिम्मत ने जवाब दे दिया। वह वहीं शिथिल होकर गिर पड़ा। रास्ते की थकन घर पहुँचने पर मालूम होती है।

अरब ने उठकर पूछा--तू कौन है ?

दाऊद--एक ग़रीब ईसाई। मुसीबत में फँस गया हूँ। अब आप ही शरण दें, तो मेरे प्राण बच सकते हैं।

अरब--खुदा-पाक तेरी .मदद करेगा। तुझपर क्या मुसीबत पड़ी हुई है ?

दाऊद--डरता हूँ, कहीं कह दूँ, तो आप भी मेरे खून के प्यासे न हो जायँ।

अरब--जब तू मेरी शरण आ गया, तो तुझे मुझसे कोई शंका न होनी चाहिए। हम मुसलमान हैं, जिसे एक बार अपनी शरण में ले लेते हैं, उसकी जिन्दगी-भर रक्षा करते हैं।

दाऊद--मैंने एक मुसलमान युवक की हत्या कर डाली है।

वृद्ध अरब का मुख क्रोध से विकृत हो गया, बोला—उसका नाम ?

दाऊद—उसका नाम जमाल था।

अरब सिर पकड़ कर वहीं बैठ गया। उसकी आँखें सुर्ख हो गईं; गरदन की नसें तन गईं; मुख पर अलौकिक तेजस्विता की आभा दिखाई दी; नथने फड़कने लगे। ऐसा मालूम होता था कि उसके मन में भीषण द्वन्द्व हो रहा है, और वह समस्त विचार-शक्ति से अपने मनोभावों को दबा रहा है। दो-तीन मिनट तक वह इसी उग्र अवस्था में बैठा धरती की ओर ताकता रहा। अन्त को अवरुद्ध कंठ से बोला-नहीं, नहीं, शरणागत की रक्षा करनी ही पड़ेगी। आह!

ज़ालिम! तू जानता है, मैं कौन हूँ? मैं उसी युवक का अभागा पिता हूँ, जिसकी आज तूने इतनी निर्दयता से हत्या की है! तू जानता है, तूने मुझपर कितना बड़ा अत्याचार किया है? तूने मेरे खानदान का निशान मिटा दिया है! मेरा चिराग़ गुल कर दिया! आह, जमाल मेरा इकलौता बेटा था! मेरी सारी अभिलाषाएँ उसी पर निर्भर थीं। वही मेरी आँखों का उजाला, मुझ अन्धे का सहारा, मेरे जीवन का आधार, मेरे जर्जर शरीर का प्राण था। अभी-अभी उसे क़ब्र की गोद में लिटाकर आया हूँ। आह, मेरा शेर आज खाक के नीचे सो रहा है। ऐसा दिलेर, ऐसा दीनदार, ऐसा सजीला जवान मेरी क़ौम में दूसरा न था। ज़ालिम, तुझे उसपर तलवार चलाते ज़रा भी दया न आई! तेरा पत्थर का कलेजा ज़रा भी न पसीजा! तू जानता है, मुझे इस वक़्त तुझ पर कितना गुस्सा आ रहा है? मेरा जी चाहता है कि अपने दोनों हाथों से तेरी गरदन पकड़ कर इस तरह दबाऊँ कि तेरी ज़बान बाहर निकल आवे, तेरी आँखें कौड़ियों की तरह बाहर निकल पड़ें। पर नहीं, तू ने मेरी शरण ली है, कर्तव्य मेरे हाथों को बाँधे हुए है; क्योंकि हमारे रसूल-पाक ने हिदायत की है कि जो अपनी पनाह में आवे, उसपर हाथ न उठाओ। मैं नहीं चाहता कि नबी के हुक्म को तोड़ कर दुनिया के साथ अपनी आक़बत भी बिगाड़ लूँ। दुनिया तूने बिगाड़ी, दीन अपने हाथों बिगाड़ूँ? नहीं। सब्र करना मुश्किल है; पर सब्र करूँगा, ताकि नबी के सामने आँखें नीची न करनी पड़ें। आ,

घर में आ। तेरा पीछा करनेवाले वह दौड़े आ रहे हैं। तुझे देख लेंगे, तो फिर मेरी सारी मिन्नत-समाजत तेरी जान न बचा सकेगी। तू नहीं जानता कि अरब लोग खून कभी माफ नहीं करते।

यह कहकर अरब ने दाऊद का हाथ पकड़ लिया, और उसे घर में ले जाकर एक कोठरी में छिपा दिया। वह घर से बाहर निकला ही था कि अरबों का एक दल उसके द्वार पर आ पहुँचा।

एक आदमी ने पूछा—क्यों शेख़ हसन, तुमने इधर से किसी को भागते देखा है ?

"हाँ, देखा है।"

"उसे पकड़ क्यों न लिया ? वही तो जमाल का क़ातिल था।"

"यह जानकर भी मैंने उसे छोड़ दिया।"

"एँ ! ग़ज़ब खुदा का, यह तुमने क्या किया ? ज़माल हिसाब के दिन हमारा दामन पकड़ेगा, तो हम क्या जवाब देंगे ?"

"तुम कह देना कि तेरे बाप ने तेरे क़ातिल को माफ़ कर दिया।"

'अरब ने कभी क़ातिल का खून नहीं माफ़ किया।"

"यह तुम्हारी ज़िम्मेदारी है, मैं उसे अपने सिर यों लूँ।"

अरबों ने शेख़ हसन से ज़्यादा हुज्जत न की, क़ातिल को

तलाश में दौड़े। शेख़ हसन फिर चटाई पर बैठकर कुरान पढ़ने लगा। लेकिन उसका मन पढ़ने में न लगता था। शत्रु से बदला लेने की प्रवृत्ति अरबों की प्रकृति में बद्धमूल होती थी। खून का बदला खून था। इसके लिये खून की नदियाँ बह जाती थीं, क़बीले के क़बीले मर मिटते थे, शहर के शहर वीरान हो जाते थे। उस प्रवृत्ति पर विजय पाना शेख़ हसन को असाध्य-सा प्रतीत हो रहा था। बार-बार प्यारे पुत्र की सूरत उसकी आँखों के आगे फिरने लगती थी, बार-बार उसके मन में प्रबल उत्तेजना होती थी कि चलकर दाऊद के खून से अपने क्रोध की आग बुझाऊँ। अरब वीर होते थे। कटना-मरना उनके लिये कोई असाधारण बात न थी। मरने वालों के लिये वे आँसुओं की कुछ बूँदें बहाकर फिर अपने काम में प्रवृत्त हो जाते थे। वे मृत व्यक्ति की स्मृति को केवल उसी दशा में जीवित रखते थे, जब उनके खून का बदला लेना होता था। अन्त को शेख़ हसन अधीर हो उठा। उसको भय हुआ कि अब मैं अपने ऊपर काबू नहीं रख सकता। उसने तलवार म्यान से निकाल ली, और दबे पाँव उस कोठरी के द्वार पर आकर खड़ा हो गया, जिसमें दाऊद छिपा हुआ था। तलवार को दामन में छिपाकर उसने धीरे से द्वार खोला। दाऊद टहल रहा था। बूढ़े अरब का रौद्र रूप देखकर दाऊद उसके मनोवेग को ताड़ गया। उसे बूढ़े से सहानुभूति हो गई। उसने सोचा, यह धर्म का दोष नहीं, जाति का दोष नहीं। मेरे पुत्र की किसी ने हत्या की होती, तो

कदाचित् मैं भी उसके खून का प्यासा हो जाता। यही मानव-प्रकृति है।

अरब ने कहा—दाऊद, तुम्हें मालूम है, बेटे की मौत का कितना ग़म होता है?

दाऊद—इसका अनुभव तो नहीं है, पर अनुमान कर सकता हूँ। अगर मेरी जान से आपके उस ग़म का एक हिस्सा भी मिट सके, तो लीजिये, यह सिर हाज़िर है। मैं इसे शौक़ से आपकी नज़र करता हूँ। आपने दाऊद का नाम सुना होगा।

अरब—क्या पोटर का बेटा?

दाऊद—जी हाँ! मैं वही बदनसीब दाऊद हूँ। मैं केवल आपके बेटे का घातक ही नहीं, इसलाम का दुश्मन हूँ। मेरी जान लेकर आप जमाल के खून का बदला ही न लेंगे, बल्कि अपनी जाति और धर्म की सच्ची सेवा भी करेंगे।

शेख़ हसन ने गम्भीर भाव से कहा—दाऊद, मैंने तुम्हें माफ़ किया। मैं जानता हूँ, मुसलमानों के हाथों ईसाइयों को बहुत तकलीफें पहुँची हैं; मुसलमानों ने उनपर बड़े-बड़े अत्याचार किए हैं, उनकी स्वाधीनता हर ली है। लेकिन यह इसलाम का नहीं, मुसलमानों का क़सूर है। विजय-गर्व ने मुसलमानों की मति हर ली है। हमारे पाक-नबी ने यह शिक्षा नहीं दी थी, जिसपर आज हम चल रहे हैं। वह स्वयं क्षमा और दया का सर्वोच्च आदर्श हैं। मैं इसलाम के नाम बट्टा न लगाऊँगा। मेरी ऊँटनी ले लो, और रातोरात जहाँ तक

भागा जाय, भागो। कहीं एक क्षण के लिये भी न ठहरना। अरबों को तुम्हारी बू भी मिल गई, तो तुम्हारी जान की खैरियत नहीं। जाओ, तुम्हें खुदाए-पाक घर पहुँचावे। बूढ़े शेख़ हसन और उसके बेटे जमाल के लिये खुदा से दुआ किया करना।

❀ ❀ ❀

दाऊद खैरियत से घर पहुँच गया; किन्तु अब वह दाऊद न था, जो इसलाम को जड़ से खोदकर फेंक देना चाहता था। उसके विचारों में गहरा परिवर्तन हो गया था। अब वह मुसलमानों का आदर करता और इसलाम का नाम इज़्ज़त से लेता था।

अभ्यास

१—'क्षमा' में क्या शक्ति है? इस कहानी के आधार पर उसकी महत्ता का वर्णन करो।

२—इन शब्दों का अर्थ बताओ—

अबाएँ, अमामे, ज़िच, रेहल, मिन्नत-समाजत।

३—इनका तात्पर्य समझाओ—

'एक सर्प की भाँति फन से चोट करती थी, दूसरी नागिन की भाँति उड़ती थी। एक लहरों की भाँति लपकती थी, दूसरी जल की मछलियों की भाँति चमकती थी।'

४—गरम होना, लाल होना, हाथ-पाँव फूल जाना, दम फूल जाना, इनके अर्थों का भेद बतलाओ।

मुक्ति-मार्ग

[१]

सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुन्दरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमंड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देखकर होता है। झींगुर अपने ऊख के खेतों को देखता, तो उसपर नशा-सा छा जाता। तीन बीघे ऊख थी। इसके ६००) तो अनायास ही मिल जायँगे। और, जो कहीं भगवान् ने डाँड़ी तेज़ कर दी, तो फिर क्या पूछना। दोनों बैल बुड्ढे हो गए। अबकी नयी गोईं बटेसर के मेले से ले आवेगा। कहीं दो बीघे खेत और मिल गए, तो लिखा लेगा। रुपयों की क्या चिन्ता है। बनिये अभी से उसकी खुशामद करने लगे थे। ऐसा कोई न था, जिससे उसने गाँव में लड़ाई न की हो। वह अपने आगे किसी को कुछ समझता ही न था।

एक दिन सन्ध्या के समय वह अपने बेटे को गोद में लिए मटर की फलियाँ तोड़ रहा था। इतने में उसे भेड़ों का एक झुंड अपनी तरफ़ आता दिखाई दिया। वह अपने मन में कहने लगा—इधर से भेड़ों के निकलने का रास्ता न था। क्या खेत की मेड़ पर से भेड़ों का झुंड नहीं जा सकता था? भेड़ों को इधर से लाने की क्या ज़रूरत? ये खेत को कुचलेंगी, चरेंगी। इसका डाँड़ कौन देगा? मालूम होता है, बुद्धू गड़ेरिया है। बचा को घमंड हो गया है; तभी तो खेतों के बीच

से भेड़ें लिए चला आता है। ज़रा इसकी ढिठाई तो देखो। देख रहा है कि मैं खड़ा हूँ, फिर भी भेड़ों को लौटाता नहीं। कौन मेरे साथ कभी रिआयत की है कि मैं इसकी मुरौवत करूँ। अभी एक भेड़ा मोल माँगूँ, तो पाँच ही रुपये सुनावेगा। सारी दुनिया में चार रुपये के केवल बिकते हैं; पर यह पाँच रुपये से नीचे बात नहीं करता।

इतने में भेड़ें खेत के पास आ गईं। झींगुर ने ललकारकर कहा—अरे, ये भेड़े कहाँ लिए आते हो? कुछ सूझता है कि नहीं?

बुद्धू नम्र भाव से बोला—महतो, डाँड़ पर सें निकल जायँगी। घूमकर जाऊँगा, तो कोसभर का चक्कर पड़ेगा।

झींगुर—तो तुम्हारा चक्कर बचाने के लिये मैं अपना खेत क्यों कुचलाऊँ? डाँड़ ही पर से ले जाना है, तो और खेतों के डाँड़ से क्यों नहीं ले गए? क्या मुझे कोई चूहड़-चमार समझ लिया है? या धन का घमंड हो गया है? लौटाओ इनको!

बुद्धू—महतो, आज निकल जाने दो। फिर कभी इधर से आऊँ, तो जो सजा चाहे देना।

झींगुर—कह दिया कि लौटाओ इन्हें। अगर एक भेड़ भी मेड़ पर आई, तो समझ लो, तुम्हारी खैर नहीं है।

बुद्धू—महतो, अगर तुम्हारी एक बेल भी किसी भेड़ के पैरों-तले आ जाय, मुझे बैठाकर सौ गालियाँ देना।

बुद्धू बातें तो बड़ी नम्रता से कर रहा था, किन्तु लौटने

में अपनी हेठी समझता था। उसने मन में सोचा, इसी तरह ज़रा-ज़रा-सी-धमकियों पर भेड़ों को लौटाने लगा, तो फिर मैं भेड़ें चरा चुका। आज लौट जाऊँ, तो कल को कहीं निकलने का रास्ता ही न मिलेगा। सभी रोब जमाने लगेंगे।

बुद्धू भी पोढ़ा आदमी था। १२ कोड़ी भेड़ें थीं। उन्हें खेतों में बिठाने के लिये फ़ी रात ॥) कोड़ी मजदूरी मिलती थी, इसके उपरान्त दूध बेचता था; ऊन के कम्बल बनाता था। सोचने लगा—इतने गरम हो रहे हैं, मेरा कर ही क्या लेंगे? कुछ इनका दबैल तो हूँ नहीं। भेड़ों ने जो हरी-हरी पत्तियाँ देखीं, तो अधीर हो गईं। खेत में घुस पड़ीं। बुद्धू उन्हें डंडों से मार मारकर खेत के किनारे से हटाता था, और वे इधर-उधर से निकलकर खेत में जा पड़ती थीं। झींगुर ने आग होकर कहा--तुम मुझसे हेकड़ी जताने चले हो, तो तुम्हारी सारी हेकड़ी निकाल दूँगा।

बुद्धू—तुम्हें देखकर चौंकती हैं। तुम हट जाओ, तो मैं सबको निकाल ले जाऊँ।

झींगुर ने लड़के को तो गोद से उतार दिया, और अपना डंडा सँभालकर भेड़ों पर पिल पड़ा। धोबी भी इतनी निर्दयता से अपने गधे को न पीटता होगा। किसी भेड़ की टाँग टूटी, किसी की कमर टूटी। सबने बें बें का शोर मचाना शुरू किया। बुद्धू चुपचाप खड़ा अपनी सेना का विध्वंस अपनी आँखों से देखता रहा। वह न भेड़ों को हाँकता था न झींगुर से कुछ कहता था, बस खड़ा तमाशा देखता रहा। दो मिनट

में झींगुर ने इस सेना को अपने अमानुषिक पराक्रम से मार भगाया। मेष-दल का संहार करके विजय-गर्व से बोला–अब सीधे चले जाओ! फिर इधर से आने का नाम न लेना।

बुद्धू ने आहत भेड़ों की ओर देखते हुए कहा—झींगुर, तुमने यह अच्छा काम नहीं किया। पछताओगे!

[२]

केले को काटना भी इतना आसान नहीं, जितना किसान से बदला लेना। उसकी सारी कमाई खेतों में रहती है, या खलिहानों में। कितनी ही दैविक और भौतिक आपदाओं के बाद कहीं अनाज घर में आता है। और, जो कहीं इन आपदाओं के साथ विद्रोह ने भी सन्धि कर ली, तो वेचारा किसान कहीं का नहीं रहता। झींगुर ने घर आकर दूसरों से इस संग्राम का वृत्तान्त कहा, तो लोग समझाने लगे—झींगुर, तुमने बड़ा अनर्थ किया। जानकर अनजान बनते हो! बुद्धू को जानते नहीं, कितना झगड़ालू आदमी है। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। जाकर उसे मनालो। नहीं तो तुम्हारे साथ सारे गाँव पर आफ़त आ जायगी। झींगुर की समझ में बात आई। पछताने लगा कि मैंने कहाँ से कहाँ उसे रोका। अगर भेड़ें थोड़ी-बहुत चर ही जातीं, तो कौन मैं उजड़ा जाता था। वास्तव में हम किसानों का कल्यान दबे रहने में ही है। ईश्वर को भी हमारा सिर उठाकर चलना अच्छा नहीं लगता। जी तो बुद्धू के घर जाने को न चाहता था, किन्तु दूसरों के आग्रह से मजबूर होकर चला। अगहन का महीना था, कुहरा पड़ रहा था।

चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था। गाँव से बाहर निकला ही था कि सहसा अपने ऊख के खेत की ओर अग्निकी ज्वाला देखकर चौंक पड़ा। छाती धड़कने लगी। खेत में आग लगी हुई थी। बेतहाशा दौड़ा। मनाता जाता था कि मेरे खेत में न हो। पर ज्यों-ज्यों समीप पहुँचता था, यह आशामय भ्रम शान्त होता जाता था। वह अनर्थ हो ही गया, जिसके निवारण के लिये वह घर से चला था। हत्यारे ने आग लगा ही दी, और मेरे पीछे सारे गाँव को चौपट किया। उसे ऐसा जान पड़ता था कि वह खेत आज बहुत समीप आ गया है, मानों बीच के परती खेतों का अस्तित्व ही नहीं रहा। अन्त में जब वह खेत पर पहुँचा, तो आग प्रचंड रूप धारण कर चुकी थी। झींगुर ने "हाय हाय" मचाना शुरू किया। गाँव के लोग दौड़ पड़े, और खेतों से अरहर के पौदे उखाड़ उखाड़ कर आग को पीटने लगे। अग्निमानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक पक्ष प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि-पक्ष के योद्धा मर-मरकर जी उठते थे, और द्विगुण शक्ति से, रणोन्मत्त होकर, शस्त्र-प्रहार करने लगते थे। मानव-पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्ज्वल थी, वह बुद्धू था। बुद्धू कमर तक धोती चढ़ाए, प्राण हथेली पर लिए, अग्निराशि में कूद पड़ता था, और शत्रुओं को परास्त करके, बाल बाल बचकर, निकल आता था। अन्त में मानव दल की विजय हुई; किन्तु ऐसी विजय, जिसपर हार भी हँसती। गाँव-भर की ऊख जलकर

भस्म हो गई, और ऊख के साथ सारी अभिलाषाएँ भी भस्म हो गईं।

[३]

आग किसने लगाई, यह खुला हुआ भेद था; पर किसी को कहने का साहस न था। कोई सबूत नहीं। प्रमाण हीन तर्क का मूल्य हो गया। झींगुर को घर से निकलना मुश्किल हो गया। जिधर जाता, ताने सुनने पड़ते। लोग प्रत्यक्ष कहते थे—यह आग तुमने लगवाई। तुम्हीं ने हमारा सर्व-नाश किया। तुम्हीं मारे घमंड के धरती पर पैर न रखते थे। आपके आप गए, अपने साथ गाँव-भर को डुबो दिया। बुद्धू को न छेड़ते, तो आज क्यों यह दिन देखना पड़ता? झींगुर को अपनी बरबादी का इतना दुःख न था, जितना इन जली-कटी बातों का। दिन-भर घर में बैठा रहता। पूस का महीना आया। जहाँ सारी रात कोल्हू चला करते थे, गुड़ की सुगन्ध उड़ती रहती थी, भट्टियाँ जलती रहती थीं, और लोग भट्टियों के सामने बैठे हुक्का पिया करते थे, वहाँ सन्नाटा छाया हुआ था। ठंड के मारे लोग साँझ ही से किवाड़े बन्द करके पड़ रहते, और झींगुर को कोसते। माघ और भी कष्टदायक था। ऊख केवल धनदाता ही नहीं, किसानों की जीवनदाता भी है। उसी के सहारे किसानों का जाड़ा कटता है। गरम रस पीते हैं, ऊख की पत्तियाँ तापते हैं, उसके अगोड़े पशुओं को खिलाते हैं। गाँव के सारे कुत्ते, जो रात को भट्टियों की राख में सोया करते थे, ठंड से मर गए। कितने ही जानवर चारे

के अभाव से चल बसे। शीत का प्रकोप हुआ, और सारा गाँव खाँसी-बुख़ार में ग्रस्त हो गया। और, यह सारी विपत्ति झींगुर की करनी थी—अभागे, हत्यारे झींगुर की!

झींगुर ने सोचते सोचते निश्चय किया कि बुद्धू की दशा भी अपनी ही-सी बनाऊँगा। उसके कारण मेरा सर्वनाश हो गया, और वह चैन की वंसी बजा रहा है! मैं भी उसका सर्वनाश करूँगा!

जिस दिन इस घातक कलह का बीजारोपण हुआ, उसी दिन से बुद्धू ने इधर आना छोड़ दिया था। झींगुर ने उससे रब्त-ज़ब्त बढ़ाना शुरू किया। वह बुद्धू को दिखाना चाहता था कि तुम्हारे ऊपर मुझे बिलकुल सन्देह नहीं है। एक दिन कम्बल लेने के बहाने गया, फिर दूध लेने के बहाने जाने लगा। बुद्धू उसका खूब आदर-सत्कार करता। चिलम तो आदमी दुश्मन को भी पिला देता है, वह उसे बिना दूध और शर्वत पिलाए न आने देता। झींगुर आजकल एक सन लपेटनेवाली कल में मज़दूरी करने जाया करता था। बहुधा कई कई दिनों की मज़दूरी इकट्ठी मिलती थी। बुद्धू ही की तत्परता से झींगुर का रोज़ाना खर्च चलता था। अतएव झींगुर ने खूब रब्त-ज़ब्त बढ़ा लिया। एक दिन बुद्धू ने पूछा—क्यों झींगुर, अगर अपनी ऊख जलानेवाले को पा जाओ, तो क्या करो? सच कहना।

झींगुर ने गम्भीर भाव से कहा—मैं उससे कहूँ, भैया, तुमने जो कुछ किया, बहुत अच्छा किया। मेरा घमंड तोड़ दिया; मुझे आदमी बना दिया।

बुद्धू—मैं जो तुम्हारी जगह होता, तो बिना उसका घर जलाये न मानता।

झींगुर—चार दिन की जिन्दगानी में वैर-विरोध बढ़ाने से क्या फायदा ? मैं तो बरबाद हुआ ही, अब उसे बरबाद करके क्या पाऊँगा ?

बुद्धू—बस, यही आदमी का धर्म है। पर भाई, क्रोध के बस में होकर बुद्धि उलटी हो जाती है।

[४]

फागुन का महीना था। किसान ऊख बोने के लिये खेतों को तैयार कर रहे थे। बुद्धू का बाजार गरम था। भेड़ों की लूट मची हुई थी। दो चार आदमी नित्य द्वार पर खड़े खुशामदें किया करते। बुद्धू किसी से सीधे मुँह बात न करता। भेड़ रखने की फ़ीस दूनी कर दी थी। अगर कोई एतराज़ करता तो बेलाग कहता—तो भैया, भेड़ें तुम्हारे गले तो नहीं लगाता हूँ। जी न चाहे मत रक्खो। लेकिन मैंने जो कह दिया है, उससे एक कौड़ो भी कम नहीं हो सकती। ग़रज़ थी, लोग इस रुखाई पर भी उसे घेरे ही रहते थे, मानो पंडे किसी यात्री के पीछे पड़े हों।

लक्ष्मी का आकार तो बहुत बड़ा नहीं, और वह भी समयानुसार छोटा-बड़ा होता रहता है। यहाँ तक कि कभी वह अपना विराट् आकार समेटकर उसे काग़ज़ के चन्द अक्षरों में छिपा लेती हैं। कभी कभी तो मनुष्य की जिह्वा पर जा बैठती हैं, आकार का लोप हो जाता है। किन्तु उनके रहने को बहुत

स्थान की जरूरत होती है। वह आई, और घर बढ़ने लगा। छोटे घर में उनसे नहीं रहा जाता। बुद्धू का घर भी बढ़ने लगा। द्वार पर बरामदा डाला गया, दो की जगह छः कोठरियाँ बनवाई गईं। यों कहिए कि मकान नये सिर से बनने लगा। किसी किसान से लकड़ी माँगी, किसी से खपरों को आँवा लगाने के लिये उपले, किसी से बाँस और किसी से सरकडे। दीवार की उठवाई देनी पड़ी। वह भी नक़द नहीं; भेड़ों के बच्चों के रूप में। लक्ष्मी का यह प्रताप है। सारा काम बेगार में हो गया। मुफ्त में अच्छा खासा घर तैयार हो गया। गृहप्रवेश के उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं।

इधर झींगुर दिन-भर मज़दूरी करता, तो कहीं आधा पेट अन्न मिलता। बुद्धू के घर कंचन बरस रहा था। झींगुर जलता था, तो क्या बुरा करता था? यह अन्याय किससे सहा जायगा?

एक दिन वह टहलता हुआ चमारों के टोले की तरफ चला गया। हरिहर को पुकारा। हरिहर ने आकर 'राम राम' की, और चिलम भरी। दोनों पीने लगे। यह चमारों का मुखिया बड़ा दुष्ट आदमी था। सब किसान इससे थर थर काँपते थे।

झींगुर ने चिलम पीते पीते कहा—आजकल फाग-वाग नहीं होता क्या? सुनाई नहीं देता।

हरिहर—फाग क्या हो, पेट के धन्धे से छुट्टी ही नहीं मिलती। कहो, तुम्हारी आजकल कैसी निभती है?

झींगुर—क्या निभती है। नकटा जिया बुरे हवाल! दिन-

भर कल में मज़दूरी करते हैं, तो चूल्हा जलता है। चाँदी तो आजकल बुद्धू की है। रखने को ठौर नहीं मिलता। नया घर बना, भेड़ें और ली हैं। अब गृहपरवेस की धूम है। सातों गाँवों में सुपारी जायगी।

हरिहर—लच्छिमी मैया आती हैं, तो आदमी की आँखों में सील आ जाता है, पर उसको देखो, धरती पर पैर नहीं रखता। बोलता है, तो ऐंठ ही कर बोलता है।

झींगुर—क्यों न ऐंठे, इस गाँव में कौन है उसकी टक्कर का! पर यार यह अनीति तो नहीं देखी जाती। भगवान् दे, तो सिर झुकाकर चलना चाहिए। यह नहीं कि अपने बराबर किसी को समझे ही नहीं। उसकी डींग सुनता हूँ, तो बदन में आग लग जाती है। कल का बानी आज का सेठ। चला है हमीं से अकड़ने। अभी कल लँगोटी लगाए खेतों में कौए हँकाया करता था, आज उसका आसमान में दिया जलता है।

हरिहर—कहो, तो कुछ उताजोग करूँ?

झींगुर—क्या करोगे! इसी डर से तो वह गाय-भैंस नहीं पालता।

हरिहर—भेड़ें तो हैं?

झींगुर—क्या, बगला मारे पखना हाथ।

हरिहर—फिर तुम्हीं सोचो।

झींगुर—ऐसी जुगुत निकालो कि फिर पनपने न पावे।

इसके बाद फुस-फुस करके बातें होने लगीं। यह एक रहस्य है कि भलाइयों में जितना द्वेष होता है, बुराइयों में

उतना ही प्रेम। विद्वान् विद्वान् को देखकर, साधु साधु को देखकर, और कवि कवि को देखकर जलता है। एक दूसरे की सूरत नहीं देखना चाहता। पर जुआरी जुआरी को देखकर, शराबी शराबी को देखकर, चोर चोर को देखकर सहानुभूति दिखाता है, सहायता करता है। एक पंडितजी अगर अँधेरे में ठोकर खाकर गिर पड़ें, तो दूसरे पंडितजी उन्हें उठाने के बदले दो ठोकरें और लगावेंगे कि वह फिर उठ ही न सकें। पर एक चोर पर आफत आई देख कर दूसरा चोर उसको आड़ कर लेता है। बुराई से सब घृणा करते हैं, इसलिये बुरों में परस्पर प्रेम होता है। भलाई की सारा संसार प्रशंसा करता है, इसलिये भलों में विरोध होता है। चोर को मारकर चोर क्या पावेगा? घृणा। विद्वान् का अपमान करके विद्वान् क्या पावेगा? यश।

झींगुर और हरिहर ने सलाह कर ली। षड्यंत्र रचने की विधि सोची गई। उसका स्वरूप, समय और क्रम ठीक किया गया। झींगुर चला तो अकड़ा जाता था। मार लिया दुशमन को, अब कहाँ जाता है!

[५]

दूसरे दिन झींगुर काम पर जाने लगा, तो पहले बुद्धू के घर पहुँचा। बुद्धू ने पूछा—क्यों, आज नहीं गए क्या?

झींगुर—जा तो रहा हूँ। तुमसे यही कहने आया था कि मेरी बछिया को अपनी भेड़ों के साथ क्यों नहीं चरा दिया

करते। बेचारी खूँटे से बँधी बँधी मरी जाती है। न घास, न चारा क्या खिलावें ?

बुद्धू—भैया, मैं गाय-भैंस नहीं रखता। चमारों को जानते हो, एक ही हत्यारे होते हैं। इसी हरिहर ने मेरी दो गउएँ मार डालीं। न-जाने क्या खिला देता है। तब से कान पकड़े कि अब गाय-भैंस न पालूँगा। लेकिन तुम्हारी एक ही बछिया है, उसको कोई क्या करेगा। जब चाहो, पहुँचा दो।

यह कहकर बुद्धू अपने गृहोत्सव का सामान उसे दिखाने लगा। घी, शक्कर, मैदा, तरकारी सब मँगा रक्खा था। केवल सत्यनारायण की कथा की देर थी। झींगुर की आँखें खुल गईं। ऐसी तैयारी न उसने स्वयं कभी की थी, और न किसी को करते देखी थी। मज़दूरी करके घर लौटा, तो सबसे पहला काम जो उसने किया, वह अपनी बछिया को बुद्धू के घर पहुँचाना था। उसी रात को बुद्धू के यहाँ सत्यनारायण की कथा हुई। ब्रह्मभोज भी किया गया। सारी रात विप्रों का आगत-स्वागत करते गुज़री। भेड़ों के झुंड में जाने का अवकाश ही न मिला। प्रातःकाल भोजन करके उठा ही था (क्योंकि रात का भोजन सबेरे मिला) कि एक आदमी ने आकर खबर दी—बुद्धू, तुम यहाँ बैठे हो, उधर भेड़ों में बछिया मरी पड़ी है ! भले आदमी, उसकी पगहिया भी नहीं खोली थी !

बुद्धू ने सुना, और मानो ठोकर लग गई। झींगुर भी भोजन करके वहीं बैठा था। बोला--हाय मेरी बछिया—

चलो, ज़रा देखूँ तो। मैंने तो पगहिया नहीं लगाई थी। उसे भेड़ों में पहुँचाकर अपने घर चला गया। तुमने यह पगहिया कब लगा दी ?

बुद्धू--भगवान् जानें, जो मैंने उसकी पगहिया देखी भी हो। मैं तो तब से भेड़ों में गया ही नहीं।

झींगुर--जाते न, तो पगहिया कौन लगा देता ? गए होगे, याद न आती होगी।

एक ब्राह्मण--मरी तो भेड़ों में ही न ? दुनिया तो यही कहेगी कि बुद्धू की असावधानी से उसकी मृत्यु हुई, पगहिया किसी की हो।

हरिहर--मैंने कल साँझ को इन्हें भेड़ों में बछिया को बाँधते देखा था।

बुद्धू--मुझे !

हरिहर--तुम नहीं लाठी कन्धे पर रक्खे बछिया को बाँध रहे थे ?

बुद्धू--बड़ा सच्चा है तू ! तूने मुझे बछिया को बाँधते देखा था ?

हरिहर--तो मुझपर काहे को बिगड़ते हो भाई ? तुमने नहीं बाँधी, नहीं सही।

ब्राह्मण--इसका निश्चय करना होगा। गोहत्या का प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। कुछ हँसी-ठट्ठा है !

झींगुर--महाराज, कुछ जान-बूझकर तो बाँधी नहीं।

ब्राह्मण--इससे क्या होता है ? हत्या इसी तरह लगती है, कोई गऊ को मारने नहीं जाता।

झींगुर--हाँ, गउओं को खोलना-बाँधना है तो जोखिम का काम।

ब्राह्मण—शास्त्रों में इसे महापाप कहा है। गऊ की हत्या ब्राह्मण की हत्या से कम नहीं।

झींगुर--हाँ, फिर गऊ तो ठहरी ही। इसी से न इनका मान होता है। जो माता, सो गऊ। लेकिन महाराज, चूक हो गई। कुछ ऐसा कीजिए कि थोड़े में बेचारा निपट जाय।

बुद्धू खड़ा सुन रहा था कि अनायास मेरे सिर हत्या मढ़ी जा रही है। झींगुर की कूटनीति भी समझ रहा था। मैं लाख कहूँ, मैंने बछिया नहीं बाँधी, मानेगा कौन? लोग यही कहेंगे कि प्रायश्चित्त से बचने के लिये ऐसा कह रहा है।

ब्राह्मण देवता का भी उसका प्रायश्चित्त कराने में कल्याण होता था। भला ऐसे अवसर पर कब चूकनेवाले थे। फल यह हुआ कि बुद्धू को हत्या लग गई। ब्राह्मण भी उससे जले हुए थे। कसर निकालने की घात मिली। तीन मास का भिक्षा-दंड दिया, फिर सात तीर्थ-स्थानों की यात्रा, उसपर ५०० विप्रों का भोजन और ५ गउओं का दान। बुद्धू ने सुना तो बधिया बैठ गई। रोने लगा, तो दंड घटाकर दो मास का कर दिया। इसके सिवा कोई रिआयत न हो सकी। न कहीं अपील न कहीं फ़रियाद! बेचारे को यह दंड स्वीकार करना पड़ा।

बुद्धू ने भेड़ें ईश्वर को सौंपी। लड़के छोटे थे। स्त्री

अकेली क्या क्या करती। ग़रीब जाकर द्वारों पर खड़ा होता, और मुँह छिपाए हुए कहता--गाय की बाछी दियो बनवास। भिक्षा तो मिल जाती, किन्तु भिक्षा के साथ दो-चार कठोर, अपमानजनक शब्द भी सुनने पड़ते। दिन को जो कुछ पाता, वही शाम को किसी पेड़ के नीचे बनाकर खा लेता, और वहीं पड़ रहता। कष्ट की तो उसे परवा न थी, भेड़ों के साथ दिन-भर चलता ही था, पेड़ के नीचे सोता ही था, भोजन भी इससे कुछ ही अच्छा मिलता था; पर लज्जा थी भिक्षा माँगने की। विशेष करके जब कोई कर्कशा यह व्यंग्य कर देती थी कि रोटी कमाने का अच्छा ढंग निकाला है, तो उसे हार्दिक वेदना होती थी। पर करे क्या ?

दो महीने के बाद वह घर लौटा। बाल बढ़े हुए थे। दुर्बल इतना, मानो ६० वर्ष का बूढ़ा हो। तीर्थयात्रा के लिये रुपयों का प्रबन्ध करना था। गड़ेरियों को कौन महाजन क़र्ज़ दे ? भेड़ों का भरोसा क्या ? कभी कभी रोग फैलता है, तो रात-भर में दल-का-दल साफ़ हो जाता है। उसपर जेठ का महीना, जब भेड़ों से कोई आमदनी होने की आशा नहीं। एक तेली राज़ी भी हुआ, तो =) रुपया ब्याज पर। आठ महीने में ब्याज मूल के बराबर हो जायगा। यहाँ क़र्ज़ लेने की हिम्मत न पड़ी। इधर दो महीनों में कितनी ही भेड़ें चोरी चली गई थीं। लड़के चराने ले जाते थे। दूसरे गाँववाले चुपके से एक-दो भेड़ें किसी खेत या घर में छिपा देते, और पीछे मारकर खा जाते। लड़के बेचारे एक तो पकड़ न सकते,

और जो देख भी लेते, तो लड़ें क्योंकर। सारा गाँव एक हो जाता था। एक महीने में तो भेड़ें आधी भी न रहेंगी। बड़ी विकट समस्या थी। विवश होकर बुद्धू ने एक बूचड़ को बुलाया, और सब भेड़ें उसके हाथ बेच डालीं। ५००) हाथ लगे। उनमें से २००) लेकर वह तीर्थ-यात्रा करने गया। शेष रुपये ब्रह्मभोज आदि के लिये छोड़ गया।

बुद्धू के जाने पर उसके घर में दो बार सेंध लगी। पर यह कुशल हुई कि जगहग हो जाने के कारण रुपये बच गए।

[६]

सावन का महीना था। चारों ओर हरियाली छाई हुई थी। झींगुर के बैल न थे। खेत बटाई पर दे दिए थे। बुद्धू प्रायश्चित्त से निवृत्त हो गया था, और उसके साथ ही माया के फन्दे से भी। न झींगुर के पास कुछ था, न बुद्धू के पास। कौन किससे जलता, और किसलिये जलता?

सन की कल बन्द हो जाने के कारण झींगुर अब बेलदारी का काम करता था। शहर में एक विशाल धर्मशाला बन रही थी। हजारों मज़दूर काम करते थे। झींगुर भी उन्हीं में था। सातवें दिन मज़दूरी के पैसे लेकर घर आता था, और रात-भर रहकर सवेरे फिर चला जाता था।

बुद्धू भी मज़दूरी की टोह में यहीं पहुँचा। जमादार ने देखा, दुर्बल आदमी है, कठिन काम तो इससे हो न सकेगा, कारीगरों को गारा देने के लिये रख लिया। बुद्धू सिर पर तसला रक्खे गारा लेने गया, तो झींगुर को देखा। 'राम राम'

हुई, झींगुर ने गारा भर दिया, बुद्धू उठा लाया। दिन-भर दोनों चुपचाप अपना अपना काम करते रहे।

सन्ध्या-समय झींगुर ने पूछा—कुछ बनाओगे न ?

बुद्धू—नहीं तो खाऊँगा क्या ?

झींगुर—मैं तो एक जून चबेना कर लेता हूँ। इस जून सत्तू पर काट देता हूँ। कौन झंझट करे।

बुद्धू—इधर-उधर लकड़ियाँ पड़ी हुई हैं, बटोर लाओ, आटा मैं घर से लेता आया हूँ। घर ही पर पिसवा लिया था। यहाँ तो बड़ा महँगा मिलता है। इसी पत्थर की चट्टान पर आटा गूँधे लेता हूँ। तुम तो मेरा बनाया खाओगे नहीं, इसलिये तुम्हीं रोटियाँ सेंको, मैं बना दूँगा।

झींगुर—तवा भी तो नहीं है ?

बुद्धू—तवे बहुत हैं। यही गारे का तसला माँजे लेता हूँ।

आग जली, आटा गूँधा गया। झींगुर ने कच्ची-पक्की रोटियाँ बनाईं। बुद्धू पानी लाया। दोनों ने लाल मिर्च और नमक से रोटियाँ खाईं। फिर चिलम भरी गई। दोनों आदमी पत्थर की सिलों पर लेटे, और चिलम पीने लगे।

बुद्धू ने कहा—तुम्हारी ऊख में आग मैंने लगाई थी।

झींगुर ने विनोद के भाव से कहा—जानता हूँ।

थोड़ी देर के बाद झींगुर बोला—बछिया मैंने ही बाँधी थी, और हरिहर ने उसे कुछ खिला दिया था।

बुद्धू ने भी वैसे ही भाव से कहा—जानता हूँ।

फिर दोनों सो गए।

अभ्यास

१—इस कहानी का नाम 'मुक्ति-मार्ग' क्यों रक्खा गया है? इसका दूसरा नाम तुम क्या रक्खोगे?

२—निम्नलिखित कहावतों का तात्पर्य भली भाँति समझाओ—

नकटा जिया बुरे हवाल, कल का बानी आज का सेठ, बगला मारे पखना हाथ।

३—इन अंशों का अर्थ बताओ—

'अग्निमानव-संग्राम का भीषण दृश्य............

अभिलाषाएँ भी भस्म हो गईं। (पृष्ठ १३५)

'लक्ष्मी का आकार.........जरूरत होती है।' (पृष्ठ १३८)

'भलाइयोंमें जितना......क्या पावेगा? यश।' (पृष्ठ १४०-४१)

४—डाँड़ी तेज़ होना, कंचन बरसना, किसी की चाँदी होना, बधिया बैठ जाना, का अर्थ बतलाओ और वाक्यों में प्रयुक्त करो।

५—'केले का काटना भी इतना आसान नहीं, जितना किसान से बदला लेना।' क्यों?

डिक्री के रुपये

[१]

नईम और कैलास में इतनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक अभिन्नता थी, जितनी दो प्राणियों में हो सकती है। नईम दीर्घकाय विशाल वृक्ष था, कैलास बाग का कोमल पौदा; नईम को क्रिकेट और फुटबाल, सैर और शिकार का व्यसन था, कैलास को पुस्तकावलोकन का; नईम एक विनोदशील, वाक्चतुर, निर्द्वन्द्व, हास्यप्रिय, विलासी युवक था। उसे कल की चिन्ता कभी न सताती थी। विद्यालय उसके लिये क्रीड़ा का स्थान था, और कभी कभी बेंच पर खड़े होने का। इसके प्रतिकूल कैलास एक एकान्तप्रिय, आलसी, व्यायाम से कोसों भागनेवाला, आमोद-प्रमोद से दूर रहनेवाला, चिन्ताशील, आदर्शवादी जीव था। वह भविष्य की कल्पनाओं से विकल रहता था। नईम एक सुसम्पन्न, उच्च पदाधिकारी पिता का एक मात्र पुत्र था। कैलास एक साधारण व्यवसायी के कई पुत्रों में से एक। उसे पुस्तकों के लिये काफ़ी धन न मिलता था, माँग-जाँचकर काम निकाला करता था। एक के लिये जीवन आनन्द का स्वप्न था, और दूसरे के लिये विपत्तियों का बोझ। पर इतनी विषमताओं के होते हुए भी उन दोनों में घनिष्ठ मैत्री और निःस्वार्थ, विशुद्ध प्रेम था। कैलास मर जाता, पर नईम का अनुग्रह-पात्र न बनता; और नईम

मर जाता, पर कैलास से बेअदबी न करता। नईम की ख़ातिर से कैलास कभी कभी स्वच्छ, निर्मल वायु का सुख उठा लिया करता। कैलास की ख़ातिर से नईम भी कभी कभी भविष्य के स्वप्न देख लिया करता था। नईम के लिये राज्यपद का द्वार खुला हुआ था, भविष्य कोई अपार सागर न था। कैलास को अपने हाथों से कुआँ खोदकर पानी पीना था, भविष्य एक भीषण संग्राम था, जिसके स्मरण-मात्र से उसका चित्त अशान्त हो उठता था।

[२]

कॉलेज से निकलने के बाद नईम को शासन-विभाग में एक उच्च पद प्राप्त हो गया, यद्यपि वह तीसरी श्रेणी में पास हुआ था। कैलास प्रथम श्रेणी में पास हुआ था ; किन्तु उसे बरसों एड़ियाँ रगड़ने, ख़ाक छानने और कुएँ झाँकने पर भी कोई काम न मिला। यहाँ तक कि विवश होकर उसे अपनी क़लम का आश्रय लेना पड़ा। उसने एक समाचार-पत्र निकाला। एक ने राज्याधिकार का रास्ता लिया, जिसका लक्ष्य धन था, और दूसरे ने सेवा-मार्ग का सहारा लिया, जिसका परिणाम ख्याति, कष्ट और कभी कभी कारागार होता है। नईम को उसके दफ़्तर के बाहर कोई न जानता था; किन्तु वह बँगले में रहता, हवागाड़ी पर हवा खाता, थिएटर देखता और गरमियों में नैनीताल की सैर करता था। कैलास को सारा संसार जानता था, पर उसके रहने का मकान कच्चा था, सवारी के लिये अपने पाँव। बच्चों के लिये दूध भी

मुश्किल से मिलता, साग-भाजी में काट-कपट करना पड़ता था। नईम के लिये सबसे बड़े सौभाग्य की बात यह थी कि उसके केवल एक पुत्र था ; पर कैलास के लिये सबसे बड़ी दुर्भाग्य की बात उसकी सन्तान-वृद्धि थी, जो उसे पनपने न देती थी। दोनों मित्रों में पत्र-व्यवहार होता रहता था। कभी कभी दोनों में मुलाक़ात भी हो जाती थी। नईम कहता था-- यार, तुम्हीं मज़े में हो, देश और जाति की कुछ सेवा तो कर रहे हो। यहाँ तो पेट-पूजा के सिवा और किसी काम के न हुए। पर यह "पेटपूजा" उसने कई दिनों की कठिन तपस्या से हृदयंगम कर पाई थी, और उसके प्रयोग के लिये अवसर ढूँढ़ता रहता था।

कैलास खूब समझता था कि यह केवल नईम की विनयशीलता है। यह मेरी कुदशा से दुःखी होकर मुझे इस उपाय से सान्त्वना देना चाहता है। इसलिये वह अपनी वास्तविक स्थिति को उससे छिपाने का विफल प्रयत्न किया करता था।

विष्णुपुर की रियासत में हाहाकार मचा हुआ था। रियासत का मैनेजर अपने बँगले में, ठीक दोपहर के समय, सैकड़ों आदमियों के सामने, क़त्ल कर दिया गया था। यद्यपि खूनी भाग गया था, पर अधिकारियों को सन्देह था कि कुँवर साहब की दुष्प्रेरणा से ही यह हत्याभिनय हुआ है। कुँवर साहब अभी बालिग़ न हुए थे। रियासत का प्रबन्ध कोर्ट आफ् वार्ड द्वारा होता था। मैनेजर पर कुँअर साहब की देख-रेख का भार भी था। विलास-प्रिय कुँअर को मैनेजर का हस्तक्षेप

बहुत ही बुरा मालूम होता था। दोनों में बरसों से मनमुटाव था। यहाँ तक कि कई बार प्रत्यक्ष कटु वाक्यों की नौबत भी आ पहुँची थी। अतएव कुँअर साहब पर सन्देह होना स्वाभाविक ही था। इस घटना का अनुसन्धान करने के लिये ज़िले के हाकिम ने मिरज़ा नईम को नियुक्त किया। किसी पुलिस-कर्मचारी द्वारा तहक़ीक़ात कराने में कुँअर साहब के अपमान का भय था।

नईम को अपने भाग्य-निर्माण का स्वर्ण-सुयोग प्राप्त हुआ। वह न त्यागी था, न ज्ञानी। सभी उसके चरित्र की दुर्बलता से परिचित थे, अगर कोई न जानता था, तो हुक्काम लोग। कुँअर साहब ने मुँह-माँगी मुराद पाई। नईम जब विष्णुपुर पहुँचा, तो उसका असामान्य आदर-सत्कार हुआ। भेंटे चढ़ने लगीं, अरदली के चपरासी, पेशकार, साईस, बावरची, ख़िदमतगार, सभी के मुँह तर और मुट्ठियाँ गरम होने लगीं। कुँअर साहब के हवाली-मवाली रात-दिन घेरे रहते, मानो दामाद ससुराल आया हो।

एक दिन प्रातःकाल कुँअर साहब की माता आकर नईम के सामने हाथ बाँधकर खड़ी हो गईं। नईम लेटा हुआ हुक्क़ा पी रहा था। तप, संयम और वैधव्य की यह तेजस्वी प्रतिमा देखकर उठ बैठा।

रानी उसकी ओर वात्सल्य-पूर्ण लोचनों से देखती हुई बोली—हुज़ूर, मेरे बेटे का जीवन आपके हाथ में है। आप ही, उसके भाग्य-विधाता हैं, आपको उसी माता की सौगन्द है,

जिसके आप सुयोग्य पुत्र हैं, मेरे लाल की रक्षा कीजिएगा। मैं तन, मन, धन आपके चरणों पर अर्पण करती हूँ।

स्वार्थ ने दया के संयोग से नईम को पूर्ण रीति से वशीभूत कर लिया।

[३]

उन्हीं दिनों कैलास नईम से मिलने आया, दोनों मित्र बड़े तपाक से गले मिले। नईम ने बातों बातों में यह सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया, और कैलास पर अपने कृत्य का औचित्य सिद्ध करना चाहा।

कैलास ने कहा—मेरे विचार में पाप सदैव पाप है, चाहे वह किसी आवरण में मंडित हो।

नईम--और मेरा विचार है कि अगर गुनाह से किसी की जान बचती हो, तो वह ऐन सवाब है। कुँअर साहब अभी नौजवान आदमी हैं। बहुत ही होनहार, बुद्धिमान्, उदार और सहृदय हैं। आप उनसे मिलें, तो खुश हो जायँ। उनका स्वभाव अत्यन्त विनम्र है। मैनेजर जो यथार्थ में दुष्ट प्रकृति का मनुष्य था, बरबस कुँअर साहब को दिक़ किया करता था। यहाँ तक कि एक मोटरकार के लिये उसने रुपये न स्वीकार किए, न सिफ़ारिश की। मैं यह नहीं कहता कि कुँअर साहब का यह कार्य स्तुत्य है; लेकिन बहस यह है कि उनको अपराधी सिद्ध करके उन्हें कालेपानी की हवा खिलाई जाय, या निरपराध सिद्ध करके उनकी प्राण-रक्षा की जाय। और भाई, तुमसे तो कोई परदा नहीं है, पूरे २० हज़ार की

थैली है। बस, मुझे अपनी रिपोर्ट में यह लिख देना होगा कि व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण यह दुर्घटना हुई है, राजा साहब का इससे कोई सम्पर्क नहीं। जो शहादतें मिल सकीं, उन्हें मैंने ग़ायब कर दिया। मुझे इस कार्य के लिये नियुक्त करने में अधिकारियों की एक मसलहत थी। कुँअर साहब हिन्दू हैं, इसलिये किसी हिन्दू कर्मचारी को नियुक्त न करके ज़िलाधीश ने यह भार मेरे सिर रक्खा। यह साम्प्रदायिक विरोध मुझे निस्पृह सिद्ध करने के लिये काफ़ी है। मैंने दो-चार अवसरों पर कुछ तो हुक्काम की प्रेरणा से और कुछ स्वेच्छा से मुसलमानों के साथ पक्षपात किया, जिससे यह मशहूर हो गया है कि मैं हिन्दुओं का कट्टर दुश्मन हूँ। हिन्दू लोग तो मुझे पक्षपात का पुतला समझते हैं। यह भ्रम मुझे आक्षेपों से बचाने के लिये काफ़ी है। बताओ, हूँ तक़दीरवर कि नहीं?

कैलास—अगर कहीं बात खुल गई तो?

नईम—तो यह मेरी समझ का फेर, मेरे अनुसन्धान का दोष, मानव-प्रकृति के एक अटल नियम का उज्ज्वल उदाहरण होगा! मैं कोई सर्वज्ञ तो हूँ नहीं। मेरी नीयत पर आँच न आने पावेगी। मुझपर रिश्वत लेने का सन्देह न हो सकेगा। आप इसके व्यावहारिक कोण पर न जाइए, केवल इसके नैतिक कोण पर निगाह रखिए। यह कार्य नीति के अनुकूल है या नहीं? आध्यात्मिक सिद्धान्तों को न खींच लाइएगा, केवल नीति के सिद्धान्तों से इसकी विवेचना कीजिए।

कैलास—इसका एक अनिवार्य फल यह होगा कि दूसरे

रईसों को भी ऐसे दुष्कृत्यों की उत्तेजना मिलेगी। धन से बड़े-से-बड़े पापों पर परदा पड़ सकता है, इस विचार के फैलने का फल कितना भंयकर होगा, इसका आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

नईम--जी नहीं, मैं यह अनुमान नहीं कर सकता। रिश्वत अब भी ९० फ़ी सदी अभियोगों पर परदा डालती है। फिर भी पाप का भय प्रत्येक हृदय में है।

दोनों मित्रों में देर तक इस विषय पर तर्क-वितर्क होता रहा; लेकिन कैलास का न्याय-विचार नईम के हास्य और व्यंग्य से पेश न पा सका।

[४]

विष्णुपुर के हत्याकांड पर समाचार-पत्रों में आलोचना होने लगी। सभी पत्र एक स्वर से राजा साहब को ही लांछित करते और गवर्नमेंट को राजा साहब से अनुचित पक्षपात करने का दोष लगाते थे; लेकिन इसके साथ यह भी लिख देते थे कि अभी यह अभियोग विचाराधीन है, इसलिये इसपर टीका नहीं की जा सकती।

मिरजा नईम ने अपनी खोज को सत्य का रूप देने के लिये पूरे एक महीने व्यतीत किए। जब उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई, तो राजनीतिक क्षेत्र में विप्लव मच गया। जनता के सन्देह की पुष्टि हो गई।

कैलास के सामने अब एक जटिल समस्या उपस्थित हुई। अभी तक उसने इस विषय पर एक-मात्र मौन धारण कर

रक्खा था। वह यह निश्चय न कर सकता था कि क्या लिखूँ। गवर्नमेंट का पक्ष लेना अपनी अन्तरात्मा को पद-दलित करना था, आत्मस्वातन्त्र्य का बलिदान करना था। पर मौन रहना और भी अपमानजनक था। अन्त को जब सहयोगियों में दो-चार ने उसके ऊपर सांकेतिक रूप से आक्षेप करना शुरू किया कि उसका मौन निरर्थक नहीं है, तब उसके लिये तटस्थ रहना असह्य हो गया। उसके वैय-क्तिक तथा जातीय कर्तव्य में घोर संग्राम होने लगा। उस मैत्री को, जिसके अंकुर पचीस वर्ष पहले हृदय में अंकु-रित हुए थे, और अब जो एक सघन, विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुकी थी, हृदय से निकालना हृदय को चीरना था। वह मित्र, जो उसके दुख में दुखी और सुख में सुखी होता था, जिसका उदार हृदय नित्य उसकी सहायता के लिये तत्पर रहता था, जिसके घर में जाकर वह अपनी चिन्ताओं को भूल जाता था, जिसके प्रेमालिंगन में वह अपने कष्टों को विसर्जित कर दिया करता था, जिसके दर्शन-मात्र ही से उसे आश्वासन, दृढ़ता तथा मनोबल प्राप्त होता था, उसी मित्र की जड़ खोदनी पड़ेगी! वह बुरी सायत थी, जब मैंने सम्पादकीय क्षेत्र में पदार्पण किया, नहीं तो आज इस धर्म-संकट में क्यों पड़ता! कितना घोर विश्वासघात होगा! विश्वास मैत्री का मुख्य अंग है। नईम ने मुझे अपना विश्वास-पात्र बनाया है, मुझसे कभी परदा नहीं रक्खा। उसके उन गुप्त रहस्यों को प्रकाश में लाना उसके प्रति कितना घोर

अन्याय होगा ! नहीं, मैं मैत्री को कलंकित न करूँगा, उसकी निर्मल कीर्ति पर धब्बा न लगाऊँगा, मैत्री पर वज्राघात न करूँगा। ईश्वर वह दिन न लावे कि मेरे हाथों नईम का अहित हो। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि मुझपर कोई संकट पड़े, तो नईम मेरे लिये प्राण तक दे देने को तैयार हो जायगा। उसी मित्र को मैं संसार के सामने अपमानित करूँ, उसकी गरदन पर कुठार चलाऊँ ! भगवान्, मुझे वह दिन न दिखाना।

लेकिन जातीय कर्तव्य का पक्ष भी निरस्त्र न था। पत्र का सम्पादक परम्परा-गत नियमों के अनुसार जाति का सेवक है। वह जो कुछ देखता है, जाति की विराट् दृष्टि से देखता है। वह जो कुछ विचार करता है, उसपर भी जातीयता की छाप लगी होती है। नित्य जाति के विस्तृत विचार-क्षेत्र में विचरण करते रहने से व्यक्ति का महत्त्व उसकी दृष्टि में अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है, वह व्यक्ति को क्षुद्र, तुच्छ, नगण्य समझने लगता है। व्यक्ति की जाति पर बलि देना उसकी नीति का प्रथम अंग है। यहाँ तक कि वह बहुधा अपने स्वार्थ को भी जाति पर वार देता है। उसके जीवन का लक्ष्य महान् और आदर्श पवित्र होता है। वह उन महान् आत्माओं का अनुगामी होता है, जिन्होंने राष्ट्रों का निर्माण किया है, जिनकी कीर्ति अमर हो गई है, जो दलित राष्ट्रों की उद्धारक हो गई हैं। वह यथा-शक्ति कोई काम ऐसा नहीं कर सकता, जिससे उसके पूर्वजों की उज्ज्वल विरुदावली में कालिमा लगने का भय हो। कैलास

राजनीतिक क्षेत्र में बहुत कुछ यश और गौरव प्राप्त कर चुका था। उसकी सम्मति आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। उसके निर्भीक विचारों ने, उसकी निष्पक्ष टीकाओं ने उसे सम्पादक-मंडली का प्रमुख नेता बना दिया था। अतएव इस अवसर पर मैत्री का निर्वाह केवल उसकी नीति और आदर्श ही के विरुद्ध नहीं, उसके मनोगत भावों के भी विरुद्ध था। इसमें उसका अपमान था, आत्मपतन था, भीरुता थी। यह कर्तव्य-पथ से विमुख होना और राजनीतिक क्षेत्र से सदैव के लिये बहिष्कृत हो जाना था। एक व्यक्ति की, चाहे वह मेरा कितना ही आत्मीय क्यों न हो, राष्ट्र के सामने क्या हस्ती है! नईम के बनने या बिगड़ने से राष्ट्र पर कोई असर न पड़ेगा। लेकिन शासन की निरंकुशता और अत्याचार पर परदा डालना राष्ट्र के लिये भयंकर सिद्ध हो सकता है। उसे इसकी परवा न थी कि मेरी आलोचना का प्रत्यक्ष कोई असर होगा या नहीं। सम्पादक की दृष्टि में अपनी सम्मति सिंहनाद के समान प्रतीत होती है। वह कदाचित् समझता है कि मेरी लेखनी शासन को कम्पायमान कर देगी, विश्व को हिला देगी। शायद सारा संसार मेरी क़लम की सरसराहट से थर्रा उठेगा, मेरे विचार प्रकट होते ही युगान्तर उपस्थित कर देंगे। नईम मेरा मित्र है, किन्तु राष्ट्र मेरा इष्ट है। मित्र के पद की रक्षा के लिये क्या अपने इष्ट पर प्राणघातक आघात करूँ?

कई दिनों तक कैलास के व्यक्तिगत और सम्पादकीय कर्तव्यों में संघर्ष होता रहा। अन्त को जाति ने व्यक्ति को

परास्त कर दिया। उसने निश्चय किया कि मैं इस रहस्य का यथार्थ स्वरूप दिखा दूँगा; शासन के अनुत्तरदायित्व को जनता के सामने खोलकर रख दूँगा; शासन-विभाग के कर्मचारियों की स्वार्थ-लोलुपता का नमूना दिखा दूँगा; दुनिया को दिखा दूँगा कि सरकार किनकी आँखों से देखती है, किनके कानों से सुनती है। उसकी अक्षमता, उसकी अयोग्यता, और उसकी दुर्बलता को प्रमाणित करने का इससे बढ़कर और कौन-सा उदाहरण मिल सकता है? नईम मेरा मित्र है, तो हो; जाति के सामने वह कोई चीज़ नहीं है। उसकी हानि के भय से मैं राष्ट्रीय कर्त्तव्य से क्यों मुँह फेरूँ, अपनी आत्मा को क्यों दूषित करूँ, अपनी स्वाधीनता को क्यों कलंकित करूँ? आह, प्राणों से प्रिय नईम! मुझे क्षमा करना, आज तुम-जैसे मित्र-रत्न को अपने कर्तव्य की वेदी पर बलि चढ़ाता हूँ। मगर तुम्हारी जगह अगर मेरा पुत्र होता, तो उसे भी इसी कर्तव्य की बलि-वेदी पर भेंट कर देता!

दूसरे दिन से कैलास ने इस दुर्घटना की मीमांसा शुरू की। जो कुछ उसने नईम से सुना था, वह सब एक लेख-माला के रूप में प्रकाशित करने लगा। घर का भेदी लंका ढाहे! अन्य सम्पादकों को जहाँ अनुमान, तर्क और युक्ति के आधार पर अपना मत स्थिर करना पड़ता था, और इसलिये वे कितनी ही अनर्गल, अपवाद-पूर्ण बातें लिख डालते थे, वहाँ कैलास की टिप्पणियाँ प्रत्यक्ष प्रमाणों से युक्त होती थीं।

वह पते पते की बातें कहता था, और उस निर्भीकता के साथ, जो दिव्य अनुभव का निर्देश करती थी। उसके लेखों में विस्तार कम, पर सार अधिक होता था। उसने नईम को भी न छोड़ा, उसकी स्वार्थ-लिप्सा का खूब खाका उड़ाया। यहाँ तक कि वह धन की संख्या भी लिख दी, जो इस कुत्सित व्यापार पर परदा डालने के लिये उसे दी गई थी। सबसे मजे की बात यह थी कि उसने नईम से एक राष्ट्रीय गुप्तचर की मुलाकात का भी उल्लेख किया, जिसने नईम को रुपये लेते हुए देखा था। अन्त में गवर्नमेंट को भी चैलेंज दिया कि जो उसमें साहस हो, तो मेरे प्रमाणों को झूठा साबित कर दे। इतना ही नहीं, उसने वह वार्तालाप भी अक्षरशः प्रकाशित कर दिया, जो उसके और नईम के बीच हुआ था। रानी का नईम के पास आना, उसके पैरों पर गिरना, कुँअर साहब का नईम के पास नाना प्रकार के तोहफे लेकर आना, इस सभी प्रसंगों ने उसके लेखों में एक जासूसी उपन्यास का मज़ा पैदा कर दिया।

इन लेखों ने राजनीतिक क्षेत्र में हलचल मचा दी। पत्र-सम्पादकों को अधिकारियों पर निशाने लगाने के ऐसे अवसर बड़े सौभाग्य से मिलते हैं। जगह जगह शासन की इस करतूत की निन्दा करने के लिये सभाएँ होने लगीं। कई सदस्यों ने व्यवस्थापक सभा में इस विषय पर प्रश्न करने की घोषणा की। शासकों को कभी ऐसी मुँह की न खानी पड़ी थी। आखिर उन्हें अपनी मान-रक्षा के लिये

इसके सिवा और कोई उपाय न सूझा कि वे मिरज़ा नईम को कैलास पर मान-हानि का अभियोग चलाने के लिये विवश करें।

[५]

कैलास पर इस्तग़ासा दायर हुआ। मिरज़ा नईम की ओर से सरकार पैरवी करती थी। कैलास स्वयं अपनी पैरवी कर रहा था। न्याय के प्रमुख संरक्षकों (वकील बैरिस्टरों) ने किसी अज्ञात कारण से उसकी पैरवी करना अस्वीकार किया। न्यायाधीश को हारकर कैलास को, क़ानून की सनद न रखते हुए भी, अपने मुक़द्दमे की पैरवी करने की आज्ञा देनी पड़ी। महीनों अभियोग चलता रहा। जनता में सनसनी फैल गई। रोज़ हज़ारों आदमी अदालत में एकत्र होते थे। बाज़ारों में अभियोग की रिपोर्ट पढ़ने के लिये समाचार-पत्रों की लूट होती थी। चतुर पाठक पढ़े हुए पत्रों से-घड़ी रात जाते जाते दुगने पैसे खड़े कर लेते थे ; क्योंकि उस समय तक पत्र-विक्रेताओं के पास कोई पत्र न बचने पाता था। जिन बातों का ज्ञान पहले गिने-गिनाए पत्र-ग्राहकों को था, उनपर अब जनता की टिप्पणियाँ होने लगीं। नईम की मिट्टी कभी इतनी ख़राब न हुई थी ; गली गली, घर घर, उसी की चरचा थी। जनता का क्रोध उसी पर केन्द्रित हो गया था। वह दिन भी स्मरणीय रहेगा, जब दोनों सच्चे, एक दूसरे पर प्राण देनेवाले, मित्र अदालत में आमने-सामने खड़े हुए, और कैलास ने मिरज़ा नईम से जिरह करनी शुरू

की। कैलास को ऐसा मानसिक कष्ट हो रहा था, मानो वह नईम की गरदन पर तलवार चलाने जा रहा है। और नईम के लिये तो वह अग्नि-परीक्षा थी। दोनों के मुख उदास थे ; एक का आत्मग्लानि से, दूसरे का भय से। नईम प्रसन्न बनने की चेष्टा करता था, कभी कभी सूखी हँसी भी हँसता था ; लेकिन कैलास—आह, उस ग़रीब के दिल पर जो गुज़र रही थी उसे कौन जान सकता है।

कैलास ने पूछा—आप और मैं साथ पढ़ते थे, इसे आप स्वीकार करते हैं ?

नईम—अवश्य स्वीकार करता हूँ।

कैलास—हम दोनों में इतनी घनिष्ठता थी कि हम आपस में कोई परदा न रखते थे, इसे आप स्वीकार करते हैं ?

नईम—अवश्य स्वीकार करता हूँ।

कैलास—जिन दिनों आप इस मामले की जाँच कर रहे थे, मैं आपसे मिलने गया था, इसे भी आप स्वीकार करते हैं ?

नईम—अवश्य स्वीकार करता हूँ।

कैलास—क्या उस समय आपने मुझसे यह नहीं कहा था कि कुँअर साहब की प्रेरणा से यह हत्या हुई है ?

नईम—कदापि नहीं।

कैलास—आपके मुख से यह शब्द नहीं निकले थे कि बीस हज़ार की थैली है ?

नईम ज़रा भी न झिझका, ज़रा भी संकुचित न हुआ। उसकी ज़बान में लेश-मात्र भी लुकनत न हुई, वाणी में ज़रा भी थरथराहट न आई। उसके मुख पर अशान्ति, अस्थिरता या असमंजस का कोई भी चिह्न न दिखाई दिया। वह अविचल खड़ा रहा। कैलास ने बहुत डरते डरते यह प्रश्न किया था उसको भय था कि नईम इसका कुछ जवाब न दे सकेगा। कदाचित् रोने लगेगा। लेकिन नईम ने निःशंक भाव से कहा—सम्भव है, आपने स्वप्न में मुझसे ये बातें सुनी हों।

कैलास एक क्षण के लिये दंग हो गया। फिर उसने विस्मय से नईम की ओर नज़र डालकर पूछा—क्या आपने यह नहीं फ़रमाया था कि मैंने दो-चार अवसरों पर मुसलमानों के साथ पक्षपात किया है, और इसीलिये मुझे हिन्दू-विरोधी समझकर इस अनुसन्धान का भार सौंपा गया है?

नईम ज़रा भी न झिझका। अविचल, स्थिर और शान्त भाव से बोला—आपकी कल्पना-शक्ति वास्तव में आश्चर्य-जनक है। बरसों तक आपके साथ रहने पर भी मुझे यह विदित न हुआ था कि आपमें घटनाओं का आविष्कार करने की ऐसी चमत्कार-पूर्ण शक्ति है।

कैलास ने और कोई प्रश्न नहीं किया। उसे अपने पराभव का दुःख न था, दुःख था नईम की आत्मा के पतन का। वह कल्पना भी न कर सकता था कि कोई मनुष्य अपने मुँह से निकली हुई बात को इतनी ढिठाई से अस्वीकार कर सकता है; और वह भी उसी आदमी के मुँह पर, जिससे वह

बात कही गई हो। यह मानवी दुर्बलता की पराकाष्ठा है। वह नईम, जिसका अन्दर और बाहर एक था, जिसके विचार और व्यवहार में भेद न था, जिसकी वाणी आन्तरिक भावों का दर्पण थी, वह नईम, वह सरल, आत्माभिमानी, सत्यभक्त नईम, इतना धूर्त, ऐसा मक्कार, हो सकता है! क्या दासता के साँचे में ढलकर मनुष्य अपना मनुष्यत्व भी खो बैठता है? क्या यह दिव्य गुणों के रूपान्तरित करने का यन्त्र है?

अदालत ने नईम को २० हज़ार रुपयों की डिक्री दे दी। कैलास पर मानो वज्रपात हो गया।

[६]

इस निश्चय पर राजनीतिक संसार में फिर कुहराम मचा। *सरकारी पक्ष के पत्रों ने कैलास को धूर्त कहा; जन-पक्षवालों* ने नईम को शैतान बनाया। नईम के दुस्साहस ने न्याय की दृष्टि में चाहे उसे निरपराध सिद्ध कर दिया हो, पर जनता की दृष्टि में तो उसे और भी गिरा दिया। कैलास के पास सहानुभूति के पत्र और तार आने लगे। पत्रों में उसकी निर्भीकता और सत्यनिष्ठा की प्रशंसा होने लगी। जगह जगह सभाएँ और जलसे हुए, और न्यायालय के निश्चय पर असन्तोष प्रकट किया गया। किन्तु सूखे बादलों से पृथ्वी की तृप्ति तो नहीं होती? रुपये कहाँ से आवें, और वह भी एकदम से २० हज़ार! आदर्श-पालन का यही मूल्य है; राष्ट्र-सेवा महँगा सौदा है। २० हजार! इतने रुपये तो कैलास ने शायद स्वप्न में भी न देखे हों, और अब देने पड़ेंगे।

कहाँ से देगा ? इतने रुपयों के सूद से ही वह जीविका की चिन्ता से मुक्त हो सकता था। उसे अपने पत्र में अपनी विपत्ति का रोना रोकर चन्दा एकत्र करने से घृणा थी। मैंने अपने ग्राहकों की अनुमति लेकर इस शेर से मोरचा नहीं लिया था। मैनेजर की वकालत करने के लिये किसी ने मेरी गरदन नहीं दबाई थी। मैंने अपना कर्तव्य समझकर ही शासकों को चुनौती दी। जिस काम के लिये मैं, अकेला ज़िम्मेदार हूँ, उसका भार अपने ग्राहकों पर क्यों डालूँ। यह अन्याय है। सम्भव है, जनता में आन्दोलन करने से दो-चार हज़ार रुपये हाथ आ जायँ; लेकिन यह सम्पादकीय आदर्श के विरुद्ध है। इससे मेरी शान में बट्टा लगता है। दूसरों को यह कहने का क्यों अवसर दूँ कि और के मत्थे फुलौड़ियाँ खाईं, तो क्या बड़ा जग जीत लिया! जब जानते कि अपने बल-बूते पर गरजते! निर्भीक आलोचना का सेहरा तो मेरे सिर बँधा; उसका मूल्य दूसरों से क्यों वसूल करूँ? मेरा पत्र बन्द हो जाय, मैं पकड़कर क़ैद किया जाऊँ, मेरा मकान कुर्क़ कर लिया जाय, बरतन-भाँड़े नीलाम हो जायँ, यह सब मुझे मंजूर है। जो कुछ सिर पड़ेगा, भुगत लूँगा, पर किसी के सामने हाथ न फैलाऊँगा।

सूर्योदय का समय था। पूर्व दिशा से प्रकाश की छटा ऐसे दौड़ी चली आती थी, जैसे आँख में आँसुओं की धारा। ठंडी हवा कलेजे पर यों लगती थी, जैसे किसी के करुण क्रन्दन की ध्वनि। सामने का मैदान दुखी हृदय की भाँति

ज्योति के बाणों से बिंध रहा था। घर में वह निस्तब्धता छाई हुई थी, जो गृह-स्वामी के गुप्त रोदन की सूचना देती है। न बालकों का शोर-गुल था, और न माता की शान्ति प्रसारिणी शब्द-ताड़ना। जब दीपक बुझ रहा हो, तो घर में प्रकाश कहाँ से आवे? यह आशा का प्रभाव नहीं, शोक का प्रभाव था; क्योंकि आज ही कुर्क़-अमीन कैलास की सम्पत्ति को नीलाम करने के लिये आनेवाला था।

उसने अन्तर्वेदना से विकल होकर कहा—आह! आज मेरा सार्वजनिक जीवन का अन्त हो जायगा। जिस भवन का निर्माण करने में अपने जीवन के २५ वर्ष लगा दिए, वह आज नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। पत्र की गरदन पर छुरी फिर जायगी, मेरे पैरों में उपहास और अपमान की बेड़ियाँ पड़ जायँगी, मुख में कालिमा लग जायगी, यह शान्ति-कुटीर उजड़ जायगी, यह शोकाकुल परिवार किसी मुरझाए हुए फूल की पँखड़ियों की भाँति बिखर जायगा। संसार में उसके लिये कहीं आश्रय नहीं है। जनता की स्मृति चिरस्थायी नहीं होती; अल्प काल में मेरी सेवाएँ विस्मृति के अन्धकार में लीन हो जायँगी। किसी को मेरी सुध भी न रहेगी, कोई मेरी विपत्ति पर आँसू-बहानेवाला भी न होगा।

सहसा उसे याद आया कि आज के लिये अभी अग्रलेख लिखना है। आज अपने सुहृद् पाठकों को सूचना दूँ कि यह इस पत्र के जीवन का अन्तिम दिवस है, उसे फिर आपकी सेवा में पहुँचने का सौभाग्य न प्राप्त होगा। हमसे अनेक भूलें

हुई होंगी, आज उनके लिये आपसे क्षमा माँगते हैं। आपने हमारे प्रति जो सहवेदना और सहृदयता प्रकट की है, उसके लिये हम सदैव आपके कृतज्ञ रहेंगे। हमें किसी से कोई शिकायत नहीं है। हमें इस अकाल-मृत्यु का दुःख नहीं है; क्योंकि यह सौभाग्य उन्हीं को प्राप्त होता है, जो अपने कर्तव्य-पथ पर अविचल रहते हैं। दुःख यही है कि हम जाति के लिये इससे अधिक बलिदान करने में समर्थ न हुए। इस लेख को आदि से अन्त तक सोचकर वह कुर्सी से उठा ही था कि किसी के पैरों की आहट मालूम हुई। गरदन उठाकर देखा, तो मिरज़ा नईम था। वही हँसमुख चेहरा, वही मृदु मुसकान, वही क्रीड़ामय नेत्र। आते ही कैलास के गले से लिपट गया।

कैलास ने गरदन छुड़ाते हुए कहा—क्या मेरे घाव पर नमक छिड़कने, मेरी लाश को पैरों से ठुकराने आए हो?

नईम ने उसकी गरदन को और ज़ोर से दबाकर कहा—और क्या, मुहब्बत के यही तो मज़े हैं!

कैलास—मुझसे दिल्लगी न करो। मरा बैठा हूँ, मार बैठूँगा। नईम की आँखें सजल हो गईं। बोला—आह ज़ालिम, मैं तेरी ज़बान से यही कटु वाक्य सुनने के लिये तो विकल हो रहा था। जितना चाहे कोसो, खूब गालियाँ दो, मुझे इसमें मधुर संगीत का आनन्द आ रहा है।

कैलास—और, अभी जब अदालत का कुर्क़-अमीन मेरा घर-बार नीलाम करने आवेगा, तो क्या होगा? बोलो, अपनी जान बचाकर तो अलग हो गए!

नईम—हम दोनों मिलकर खूब तालियाँ बजावेंगे, और उसे बन्दर की तरह नचावेंगे।

कैलास—तुम अब पिटोगे मेरे हाथों से! ज़ालिम, तुझे मेरे बच्चों पर भी दया न आई?

नईम—तुम भी तो चले मुझी से ज़ोर अज़माने। कोई समय था, जब बाज़ी तुम्हारे हाथ रहती थी। अब मेरी बारी है। तुमने मौक़ा-महल तो देखा नहीं, मुझपर पिल पड़े।

कैलास—सरासर सत्य की उपेक्षा करना मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध था।

नईम—और सत्य का गला घोटना मेरे सिद्धान्त के अनुकूल।

कैलास—अभी एक पूरा परिवार तुम्हारे गले मढ़ दूँगा, तो अपनी क़िस्मत को रोओगे। देखने में तुम्हारा आधा भी नहीं हूँ; लेकिन सन्तानोत्पत्ति में तुम-जैसे तीन पर भारी हूँ। पूरे सात हैं, कम न बेश!

नईम—अच्छा लाओ, कुछ खिलाते-पिलाते हो, या तक़दीर का मरसिया ही गाए जाओगे? तुम्हारे सिर की क़सम, बहुत भूखा हूँ। घर से बिना खाना खाए ही चल पड़ा।

कैलास—यहाँ आज सोलहो दंड एकादशी है। सब-के-सब शोक में बैठे उसी अदालत के जल्लाद की राह देख रहे हैं। खाने-पीने का क्या ज़िक्र! तुम्हारे बैग में कुछ हो, तो निकालो; आज साथ बैठकर खा लें, फिर तो ज़िन्दगी-भर का रोना है ही।

नईम—फिर तो ऐसी शरारत न करोगे?

कैलास—वाह, यह तो अपने रोम रोम में व्याप्त हो गई है। जब तक सरकार पशुबल से हमारे ऊपर शासन करती रहेगी, हम इसका विरोध करते रहेंगे। खेद यही है कि अब मुझे उसका अवसर ही न मिलेगा। किन्तु तुम्हें २००००) में से २०) भी न मिलेंगे। यहाँ रद्दियों के ढेर के सिवा और कुछ नहीं है।

नईम—अजी, मैं तुमसे २० हज़ार की जगह उसका पँच-गुना वसूल कर लूँगा। तुम हो किस फेर में ?

कैलास—मुँह धो रखिए!

नईम—मुझे रुपयों की ज़रूरत है। आओ, कोई समझौता कर लो।

कैलास—कुँअर साहब के २० हज़ार रुपये डकार गए, फिर भी अभी सन्तोष नहीं हुआ? बदहज़मी हो जायगी!

नईम—धन से धन की भूख बढ़ती है, तृप्ति नहीं होती। आओ, कुछ मामला कर लो! सरकारी कर्मचारियों द्वारा मामला करने में और भी जेरबारी होगी।

कैलास—अरे तो क्या मामला कर लूँ। यहाँ कागज़ों के सिवा और कुछ हो भी तो!

नईम—मेरा ऋण चुकाने-भर को बहुत है। अच्छा, इसी बात पर समझौता कर लो कि मैं जो चीज़ चाहूँ ले लूँ। फिर रोना मत।

कैलास—अजी, तुम सारा दफ़्तर सिर पर उठा ले जाओ,

घर उठा ले जाओ, मुझे पकड़ ले जाओ, और मीठे टुकड़े खिलाओ। क़सम ले लो, जो ज़रा भी चूँ करूँ।

नईम—नहीं, मैं सिर्फ़ एक चीज़ चाहता हूँ, सिर्फ़ एक चीज़!

कैलास के कौतूहल की कोई सीमा न रही। सोचने लगा; मेरे पास ऐसी कौन-सी बहुमूल्य वस्तु है? कहीं मुझसे मुसलमान होने को तो न कहेगा। यही धर्म एक चीज़ है, जिसका मूल्य एक से लेकर असंख्य तक रक्खा जा सकता है। ज़रा देखूँ तो, हज़रत क्या कहते हैं।

उसने पूछा—क्या चीज़?

नईम—मिसेज़ कैलास से एक मिनट तक एकान्त में बातचीत करने की आज्ञा।

कैलास ने नईम के सिर पर एक चपत जमाकर कहा—फिर वही शरारत! सैकड़ों बार तो देख चुके हो, ऐसी कौन-सी इन्द्र की अप्सरा है?

नईम—वह कुछ भी हो, मामला करते हो, तो करो; मगर याद रखना, एकान्त की शर्त है।

कैलास—मंजूर है। फिर जो डिक्री के रुपये माँगे गए, तो नोच ही खाऊँगा।

नईम—हाँ, मंजूर है।

कैलास—(धीरे से) मगर यार, नाजुक-मिज़ाज स्त्री है; कोई बेहूदा मज़ाक़ न कर बैठना।

नईम—जी, इन बातों में मुझे आपके उपदेश की ज़रूरत

नहीं। मुझे उनके कमरे में ले तो चलिए!

कैलास—सिर नीचे किए रहना।

नईम—अजी, आँखों में पट्टी बाँध दो।

कैलास के घर में परदा न था। उमा चिन्ता-मग्न बैठी हुई थी। सहसा नईम और कैलास को देखकर चौंक पड़ी। बोली—आइए मिरज़ाजी, अबकी तो बहुत दिनों में याद किया।

कैलास नईम को वहीं छोड़कर कमरे के बाहर निकल आया, लेकिन परदे की आड़ से छिपकर देखने लगा कि इनमें क्या बातें होती हैं। उसे कुछ बुरा ख्याल न था, केवल कौतूहल था।

नईम—हम सरकारी आदमियों को इतनी फ़ुरसत कहाँ? डिक्री के रुपये वसूल करने थे, इसीलिये चला आया हूँ।

उमा कहाँ तो मुस्करा रही थी, कहाँ रुपये का नाम सुनते ही उसका चेहरा फ़क़ हो गया। गम्भीर स्वर में बोली—हम लोग स्वयं इसी चिन्ता में पड़े हुए हैं। कहीं रुपये मिलने की आशा नहीं है; और उन्हें जनता से अपील करते संकोच होता है।

नईम—अजी, आप कहती क्या हैं? मैंने सब रुपये पाई पाई वसूल कर लिए।

उमा ने चकित होकर कहा—सच! उनके पास रुपये कहाँ थे?

नईम—उनकी हमेशा से यही आदत है। आपसे कह

रक्खा होगा, मेरे पास कौड़ी नहीं है। लेकिन मैंने चुटकियों में वसूल कर लिया! आप उठिए, खाने का इन्तजाम कीजिए!

उमा—रुपये भला क्या दिए होंगे। मुझे एतबार नहीं आता।

नईम—आप सरल हैं, और वह एक ही काइयाँ। उसे तो मैं ही खूब जानता हूँ। अपनी दरिद्रता के दुखड़े गा गाकर आपको चकमा दिया करता होगा।

कैलास मुसकराते हुए कमरे में आए, और बोले—अच्छा अब निकलिए बाहर! यहाँ भी अपनी शैतानी से बाज़ नहीं आए?

नईम—रुपयों की रसीद तो लिख दूँ!

उमा—क्या तुमने रुपए दे दिये? कहाँ मिले?

कैलास—फिर कभी बतला दूँगा। उठिए हज़रत!

उमा—बताते क्यों नहीं, कहाँ मिले? मिरज़ाजी से कौन-सा परदा है?

कैलास—नईम, तुम उमा के सामने मेरी तौहीन करना चाहते हो?

नईम—तुमने सारी दुनिया के सामने मेरी तौहीन नहीं की?

कैलास—तुम्हारी तौहीन की, तो उसके लिये २० हज़ार रुपये नहीं देने पड़े?

नईम—मैं भी उसी टकसाल के रुपये दे दूँगा। उमा, मैं रुपये पा गया। इन बेचारे का परदा ढका रहने दो।

अभ्यास

१—कैलास और नईम के चरित्रों की आलोचना करो।

२—'मित्रता' के ऊपर एक निबन्ध लिखो।

३—इन पंक्तियों का भाव स्पष्ट करो—

'मेरी लेखनी शासन कम्पायमान कर देगी, विश्व को हिला देगी। शायद सारा संसार मेरी कलम की सरसराहट से थर्रा उठेगा। मेरे विचार प्रकट होते ही युगान्तर उपस्थित कर देंगे।'

४—'मित्र के पद की रक्षा के लिये क्या अपने इष्ट पर प्राणघातक आघात करूँ?' मित्रता के नाते इस पर विचार करो।

५—'अग्नि-परीक्षा' से क्या समझते हो?

सवा सेर गेहूँ

[१]

किसी गाँव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीधा-सादा गरीब आदमी था, अपने काम से काम, न किसी के लेने में न देने में, छक्का-पंजा न जानता था, छल-प्रपंच की उसे छूत भी न लगी थी, ठगे जाने की चिन्ता न थी, ठगविद्या न जानता था, भोजन मिला खा लिया, न मिला चबेने पर काट दी, चबेना भी न मिला तो पानी पी लिया और राम का नाम लेकर सो रहा। किन्तु जब कोई अतिथि द्वार पर आ जाता था तो उसे यह निवृत्तिमार्ग त्याग करना पड़ता था। विशेष कर जब कोई साधु-महात्मा पदार्पण करते थे तो उसे अनिवार्यतः सांसारिकता की शरण लेनी पड़ती थी। खुद भूखा सो सकता था, पर साधु को कैसे भूखा सुलाता, भगवान् के भक्त ठहरे!

एक दिन सन्ध्या-समय एक महात्मा ने आकर उसके द्वार पर डेरा जमाया। तेजस्वी मूर्ति थी, पीताम्बर गले में, जटा सिर पर, पीतल का कमंडल हाथ में, खड़ाऊँ पैर में, ऐनक आँखों पर, सम्पूर्ण वेष उन महात्माओं का-सा था जो रईसों के प्रासादों में तपस्या, हवागाड़ियों पर देवस्थानों की परिक्रमा, और योग-सिद्धि प्राप्त करने के लिये रुचिकर भोजन करते हैं। घर में जौ का आटा था, वह उन्हें कैसे खिलाता। प्राचीन काल में जौ का चाहे जो कुछ महत्त्व रहा हो, पर वर्तमान युग

में जौ का भोजन सिद्ध पुरुषों के लिये दुष्पाच्य होता है। बड़ी चिन्ता हुई कि महात्माजी को क्या खिलाऊँ। आखिर निश्चय किया कि कहीं से गेहूँ का आटा उधार लाऊँ, पर गाँव-भर में गेहूँ का आटा न मिला। गाँव में सब मनुष्य ही मनुष्य थे, देवता एक भी न था, अतएव देवताओं का खाद्य पदार्थ कैसे मिलता? सौभाग्य से गाँव के विप्र महाराज के यहाँ थोड़े-से गेहूँ मिल गए। उनसे सवा सेर गेहूँ उधार लिया और स्त्री से कहा कि पीस दे। महात्मा ने भोजन किया, लम्बी तानकर सोए, प्रातःकाल आशीर्वाद देकर अपनी राह ली।

विप्र महाराज साल में दो बार खलिहानी लिया करते थे। शंकर ने दिल में कहा, सवा सेर गेहूँ इन्हें क्या लौटाऊँ, पंसेरी के बदले कुछ ज्यादा खलिहानी दे दूँगा, यह भी समझ जाएँगे, मैं भी समझ जाऊँगा। चैत में जब विप्रजी पहुँचे तो उन्हें डेढ़ पंसेरी के लगभग गेहूँ दे दिया और अपने को उऋण समझकर उसकी कोई चरचा न की। विप्रजी ने भी फिर कभी न माँगा। सरल शंकर को क्या मालूम था कि यह सवा सेर गेहूँ चुकाने के लिये मुझे दूसरा जन्म लेना पड़ेगा?

सात साल गुजर गए। विप्रजी विप्र से महाजन हुए, शंकर किसान से मजूर हो गया। उसका छोटा भाई मंगल उससे अलग हो गया था। एक साथ रहकर दोनों किसान थे, अलग होकर दोनों मजूर हो गए थे। शंकर ने बहुत चाहा कि द्वेष की आग भड़कने न पाए, किन्तु परिस्थिति ने उसे विवश कर दिया। जिस दिन अलग अलग चूल्हे जले, वह फूट फूट

कर रोया। आज से भाई भाई शत्रु हो जाएँगे, एक रोएगा तो दूसरा हँसेगा, एक के घर मातम होगा, तो दूसरे के घर गुल-गुले पकेंगे, प्रेम का बन्धन, खून का बन्धन, दूध का बन्धन आज टूटा जाता है। उसने भगीरथ-परिश्रम से कुल-मर्यादा का यह वृक्ष लगाया था, उसे अपने रक्त से सींचा था, उसका जड़से उखड़ना देखकर उसके हृदय के टुकड़े हुए जाते थे। सात दिनों तक उसने दाने की सूरत तक न देखी। दिन-भर जेठ की धूप में काम करता और रात को मुँह लपेटकर सो रहता। इस भीषण वेदना और दुस्सह कष्ट ने रक्त को ज़ला दिया, मांस और मज्जा को घुला दिया। बीमार पड़ा तो महीनों खाट से न उठा। अब गुजर-बसर कैसे हो? पाँच बीघे के आधे खेत रह गए, एक बैल रह गया, खेती क्या खाक होती! अन्त को यहाँ तक नौबत पहुँची कि खेती केवल मर्यादरक्षा का साधन-मात्र रह गई, जीविका का भार मजूरी पर आ पड़ा!

[२]

सात वर्ष बीत गए। एक दिन शंकर मजूरी करके लौटा तो राह में विप्रजी ने टोंककर कहा—शंकर, काल आके अपने बीज-बेंग का हिसाब कर ले। तेरे यहाँ साढ़े पाँच मन गेहूँ कब से बाक़ी पड़े हुए हैं और तू देने का नाम नहीं लेता, क्या हज़म करने का मन है क्या?

शंकर ने चकित होकर कहा—मैंने तुमसे कब गेहूँ लिए थे, जो साढ़े पाँच मन हो गए? तुम भूलते हो, मेरे यहाँ किसी-का छटाँक-भर अनाज है न एक पैसा उधार!

विप्र—इसी नीयत का तो यह फल भोग रहे हो कि खाने को नहीं जुड़ता।

यह कहकर विप्रजी ने उस सवा सेर गेहूँ का जिक्र किया जो आज के ७ वर्ष पहले शंकर को दिए थे। शंकर सुनकर अवाक् रह गया। ईश्वर! मैंने इन्हें कितनी बार खलिहानी दी, इन्होंने मेरा कौन-सा काम किया? जब पोथी-पत्रा देखने, साइत-सगुन विचारने द्वार पर आते थे, कुछ न कुछ 'दच्छिना' ले ही जाते थे। इतना स्वार्थ! सवा सेर अनाज को अंडे की भाँति सेकर आज यह पिशाच खड़ा कर दिया जो मुझे निगल ही जायगा। इतने दिनों में एक बार भी कह देते तो मैं गेहूँ तौलकर दे देता, क्या इसी नीयत से चुप साधे बैठे रहे? बोला—महाराज, नाम लेकर तो मैंने उतना अनाज नहीं दिया, पर कई बार खलिहानी में सेर सेर, दो दो सेर दे दिया है। अब आप आज साढ़े पाँच मन माँगते हैं, मैं कहाँ से दूँगा?

विप्र—लेखा जौ जौ, बखसीस सौ सौ, तुमने जो कुछ दिया होगा खलिहानी में दिया होगा, उसका कोई हिसाब नहीं, चाहे एक की जगह चार पंसेरी दे दो। तुम्हारे नाम बही में साढ़े पाँच मन लिखा हुआ है, जिससे चाहे हिसाब लगवा लो। दे दो तो तुम्हारा नाम छेक दूँ, नहीं तो और भी बढ़ता रहेगा।

शंकर—पाँड़े, क्यों एक गरीब को सताते हो, मेरे खाने का ठिकाना नहीं। इतना गेहूँ किसके घर से लाऊँगा?

विप्र—जिसके घर से चाहे लाओ, मैं छटाँक भर भी न छोड़ूँगा, यहाँ न दोगे, भगवान के घर तो दोगे?

१२

शंकर काँप उठा। हम पढ़े-लिखे आदमी होते तो कह देते अच्छी बात है, ईश्वर के घर ही देंगे, वहाँ की तौल यहाँ से कुछ बड़ी तो न होगी। कम से कम इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं, फिर उसकी क्या चिन्ता। किन्तु शंकर इतना तार्किक, इतना व्यवहार-चतुर न था। एक तो ऋण—वह भी ब्राह्मण का—बही में नाम रह गया तो सीधे नरक में जाऊँगा, इस ख्याल ही से उसे रोमांच हो गया। बोला—महाराज, तुम्हारा जितना होगा यहीं दूँगा, ईश्वर के यहाँ क्यों दूँ, इस जनम में तो ठोकर खाही रहा हूँ उस जनम के लिये क्यों काँटे बोऊँ। मगर यह कोई नियाव नहीं है। तुमने राई का पर्वत बना दिया, ब्राह्मण होके तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। उसी घड़ी तगादा करके ले लिया होता, तो आज मेरे सिर पर इतना बड़ा बोझ क्यों पड़ता। मैं तो दे दूँगा, लेकिन तुम्हें भगवान के यहाँ जवाब देना पड़ेगा।

विप्र—वहाँ का डर तुम्हें होगा, मुझे क्यों होने लगा। वहाँ तो सब अपने ही भाई-बन्धु हैं। ऋषि-मुनि, सब तो ब्राह्मण ही हैं, देवता भी ब्राह्मण हैं, जो कुछ बने-बिगड़ेगी सँभाल लेंगे। तो कब देते हो?

शंकर—मेरे पास रक्खा तो है नहीं, किसी से माँग-जाँच-कर लाऊँगा तभी न दूँगा!

विप्र—मैं यह न मानूँगा। सात साल हो गए, अब एक दिन का भी मुलाहिजा न करूँगा! गेहूँ नहीं दे सकते, तो दस्तावेज़ लिख दो।

शंकर—मुझे तो देना है, चाहे गेहूँ लो चाहे दस्तावेज़

लिखाओ, किस हिसाब से दाम रक्खोगे ?

विप्र—बाज़ार-भाव पाँच सेर का है, तुम्हें सवा पाँच सेर का काट दूँगा।

शंकर—जब दे ही रहा हूँ तो बाजार-भाव काटूँगा, पाव-भर छुड़ाकर क्यों दोषी बनूँ ?

हिसाब लगाया गया तो गेहूँ के दाम ६०) हुए। ६०) का दस्तावेज़ लिखा गया, ३) सैकड़े सूद। साल-भर में न देने पर सूद का दर ३॥ सैकड़े। ॥) का स्टाम्प, १) दस्तावेज़ की तहरीर। शंकर को ऊपर से देनी पड़ी।

गाँव-भर ने विप्रजी की निन्दा की, लेकिन मुँह पर नहीं। महाजन से सभी का काम पड़ता है, उसके मुँह कौन आए।

[३]

शंकर ने साल-भर तक कठिन तपस्या की। मियाद के पहले रुपये अदा करने का उसने व्रत-सा कर लिया। दोपहर को पहले भी चूल्हा न जलता था, चबेने पर बसर होती थी, अब वह भी बन्द हुआ, केवल लड़के के लिये रात को रोटियाँ रख दी जातीं। पैसे रोज़ का तम्बाकू पी जाता था, यही एक व्यसन था जिसे वह कभी न त्याग कर सका था। अब वह व्यसन भी इस कठिन व्रत की भेंट हो गया। उसने चिलम पटक दी, हुक्का तोड़ दिया और तमाखू की हाँड़ी चूर चूर कर डाली। कपड़े पहले भी त्याग की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे, अब वह प्रकृति की न्यूनतम रेखाओं में आबद्ध हो गए। शिशिर के

अस्थि-वेधक शीत को उसने आग तापकर काट दिया। इस ध्रुव संकल्प का फल आशा से बढ़कर निकला। साल के अन्त में उसके पास ६०) जमा हो गए। उसने समझा, पंडितजी को इतने रुपये दे दूँगा और कहूँगा—महाराज, बाकी रुपये भी जल्द ही आपके सामने हाज़िर करूँगा। १५) की तो और बात है, क्या पंडितजी इतना भी न मानेंगे। उसने रुपये लिए और ले जाकर पंडितजी के चरण-कमलों पर अर्पण कर दिए। पंडितजी ने विस्मित होकर पूछा—किसी से उधार लिए क्या?

शंकर—नहीं महाराज, आपके असीस से अबकी मजूरी अच्छी मिली।

विप्र—लेकिन यह तो ६०) ही हैं!

शंकर—हाँ महाराज, इतने अभी ले लीजिए, बाकी मैं दो-तीन महीने में दे दूँगा, मुझे उरिन कर दीजिए।

विप्र—उरिन तो जभी होगे जब मेरी कौड़ी कौड़ी चुका दोगे। जाकर मेरे १५) और लाओ।

शंकर—महाराज, इतनी दया करो, अब साँझ की रोटियों का भी ठिकाना नहीं है, गाँव में हूँ तो कभी न कभी दे ही दूँगा।

विप्र—मैं यह रोग नहीं पालता, न बहुत बातें करना जानता हूँ। अगर मेरे पूरे रुपये न मिलेंगे तो आज से ३॥) सैकड़े का व्याज लगेगा। अपने रुपये चाहे अपने घर में रक्खो, चाहे मेरे यहाँ छोड़ जाओ।

शंकर—अच्छा, जितना लाया हूँ उतना रख लीजिए, मैं जाता हूँ, कहीं से १५) और लाने की फिक्र करता हूँ।

शंकर ने सारा गाँव छान मारा, मगर किसी ने रुपये न दिए, इसलिये नहीं कि उसका विश्वास न था, या किसी के पास रुपये न थे, बल्कि इसलिये कि पंडितजी के शिकार को छेड़ने की किसी को हिम्मत न थी।

[४]

क्रिया के पश्चात् प्रतिक्रिया नैसर्गिक नियम है। शंकर साल-भर तक तपस्या करने पर भी जब ऋण से मुक्त होने में सफल न हो सका तो उसका संयम निराशा के रूप में परिणत हो गया। उसने समझ लिया कि जब इतना कष्ट सहने पर भी साल भर में ६०) से अधिक न जमा कर सका तो अब और कौन-सा उपाय है जिसके द्वारा इसके दूने रुपये जमा हों। जब सिर पर ऋण का बोझ ही लदना है तो क्या मन-भर का और क्या सवा मन का। उसका उत्साह क्षीण हो गया, मिहनत से घृणा हो गई। आशा उत्साह की जननी है, आशा में तेज है, बल है, जीवन है। आशा ही संसार की संचालक शक्ति है। शंकर आशाहीन होकर उदासीन हो गया। वह जरूरतें, जिनको उसने साल-भर तक टाल रक्खा था, अब द्वार पर खड़ी होनेवाली भिखारिणी न थीं, बल्कि छाती पर सवार होनेवाली पिशाचिनियाँ थीं, जो अपनी भेंट लिए बिना जान नहीं छोड़तीं। कपड़ों में चक्तियों के लगने की भी एक सीमा होती है। अब शंकर को चिट्ठा मिलता तो वह रुपये जमा न करता, कभी कपड़े लाता, कभी खाने की कोई वस्तु। जहाँ पहले तमाखू ही पीया करता था वहाँ

अब गाँजे और चरस का चस्का भी लगा। उसे अब रुपये अदा करने की कोई चिन्ता न थी, मानो उसके ऊपर किसी का एक पैसा भी नहीं आता। पहले जूड़ी चढ़ी होती थी, पर वह काम करने अवश्य जाता था, अब काम पर न जाने के लिये बहाना खोजा करता।

इस भाँति तीन वर्ष निकल गए। विप्रजी महाराज ने एक बार भी तकाजा न किया। वह चतुर शिकारी की भाँति अचूक निशाना लगाना चाहते थे। पहले से शिकार को चौंकाना उनकी नीति के विरुद्ध था।

एक दिन पंडितजी ने शंकर को बुलाकर हिसाब दिखाया, ६०) जो जमा थे वह मिनहा करने पर अब भी शंकर के ज़िम्मे १२०) निकले।

शंकर—इतने रुपये तो उसी जन्म में दूँगा, इस जन्म में नहीं हो सकते।

विप्र—मैं इसी जन्म में लूँगा मूल न सही, सूद तो देना ही पड़ेगा।

शंकर—एक बैल है वह ले लीजिए, एक झोपड़ी है वह ले लीजिए, और मेरे पास रक्खा क्या है ?

विप्र—मुझे बैल-बधिया लेकर क्या करना है। मुझे देने को तुम्हारे पास बहुत कुछ है।

शंकर—और क्या है महाराज ?

विप्र—कुछ नहीं है तुम तो हो। आखिर तुम भी कहीं मजूरी

करने जाते ही हो, मुझे भी खेती के लिये एक मजूर रखना ही पड़ता है। सूद में तुम हमारे यहाँ काम किया करो, जब सुभीता हो मूल भी दे देना। सच तो यों है कि अब तुम किसी दूसरी जगह काम करने नहीं जा सकते, जब तक मेरे रुपये न चुका दो। तुम्हारे पास कोई जायदाद नहीं है, इतनी बड़ी गठरी मैं किस एतबार पर छोड़ दूँ। कौन इसका ज़िम्मा लेगा कि तुम मुझे महीने महीने सूद देते जाओगे। और कहीं कमाकर जब मुझे सूद भी नहीं दे सकते, तो मूल की कौन कहे?

शंकर—महाराज, सूद में तो काम करूँगा और खाऊँगा क्या?

विप्र—तुम्हारी घरवाली है, लड़के हैं, क्या वह हाथ-पाँव कटाके बैठेंगे। रहा मैं, तुम्हें आध सेर जौ रोज़ कलेवा के लिये दे दिया करूँगा। ओढ़ने को साल में एक कम्मल पा जाओगे, एक मिरजई भी बनवा दिया करूँगा, और क्या चाहिये। यह सच है कि और लोग तुम्हें ।=) रोज़ देते हैं, लेकिन मुझे ऐसी गरज़ नहीं है, मैं तो तुम्हें अपने रुपये भराने के लिये रखता हूँ।

शंकर ने कुछ देर तक गहरी चिन्ता में पड़े रहने के बाद कहा—महाराज, यह तो जनम-भर की गुलामी हुई!

विप्र—गुलामी समझो, चाहे मजूरी समझो। मैं अपने रुपये भराए बिना तुमको कभी न छोड़ूँगा। तुम भागोगे तो तुम्हारा लड़का भरेगा। हाँ, जब कोई न रहेगा तबकी बात दूसरी है।

इस निर्णय की कहीं अपील न थी। मजूर की ज़मानत

कौन करता, कहीं शरण न थी, भागकर कहाँ जाता। दूसरे दिन से उसने विप्रजी के यहाँ काम करना शुरू कर दिया। सवा सेर गेहूँ की बदौलत उम्र-भर के लिये गुलामी की बेड़ी पैरों में डालनी पड़ी। उस अभागे को अब अगर किसी विचार से सन्तोष होता था तो वह यह था कि यह मेरे पूर्व-जन्म का संस्कार है। स्त्री को वे काम करने पड़ते थे जो उसने कभी न किए थे, बच्चे दानों को तरसते थे, लेकिन शंकर चुपचाप देखने के सिवा और कुछ न कर सकता था। वह गेहूँ के दाने किसी देवता के शाप की भाँति यावज्जीवन उसके सिर से न उतरे।

[५]

शंकर ने विप्रजी के यहाँ २० वर्ष तक गुलामी करने के बाद इस दुस्सार संसार से प्रस्थान किया। १२०) अभी तक उसके सिर पर सवार थे। पंडितजी ने उस ग़रीब को ईश्वर के दरबार में कष्ट देना उचित न समझा। इतने अन्यायी, इतने निर्दय न थे। उसके जवान बेटे की गरदन पकड़ी। आज तक वह विप्रजी के यहाँ काम करता है। उसका उद्धार कब होगा, होगा भी या नहीं, ईश्वर ही जाने।

पाठक! इस वृत्तान्त को कपोल-कल्पित न समझिये। यह सत्य घटना है। ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं हुई है!

अभ्यास

१—इस कहानी के आधार पर ऋण की बुराइयों पर विचार करो।

२—किसानों की ऋण के कारण क्या दुर्गति होती है, इसपर एक लेख लिखो।

३—मनुष्यता की दृष्टि से शङ्कर और पंडितजी के चरित्र कैसे हैं ?

४—'अंडे सेना' मुहावरा कैसे बना ?

५—'प्रेमचंदजी की कहानियों में कृषक-जीवन का बड़ा ही मार्मिक चित्रण होता है।' जो कहानियाँ तुमने पढ़ी हैं, उनको सामने रखते हुए इसकी सत्यता प्रमाणित करो।

६—जितनी कहानियाँ तुमने पढ़ीं, उनमें से इस कहानी के द्वारा तुम्हारे हृदय पर कैसा प्रभाव पड़ता है ?

सुजान भगत

[१]

सीधे-सादे किसान, धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। दिव्य समाज की भाँति वे पहले अपने भोग-विलास की ओर नहीं दौड़ते। सुजान की खेती में कई साल से कंचन बरस रहा था। मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे; पर सुजान के चन्द्रमा बली थे, ऊसर में भी दाना छींट आता, तो कुछ-न-कुछ पैदा हो जाता था। तीन वर्ष लगातार ऊख लगती गई। उधर गुड़ का भाव तेज था, कोई दो-ढाई हज़ार हाथ में आ गए। बस, चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पड़ी। साधु-सन्तों का आदर-सत्कार होने लगा, द्वार पर धूनी जलने लगी, क़ानूनगो इलाके में आते, तो सुजान महतो के चौपाल में ठहरते। हल्के के हेड कांस्टेबिल, थानेदार, शिक्षा-विभाग के अफ़सर, एक-न-एक उस चौपाल में पड़ा ही रहता। महतो मारे खुशी के फूले न समाते। धन्य भाग्य! उनके द्वार पर अब इतने बड़े-बड़े हाकिम आकर ठहरते हैं। जिन हाकिमों के सामने उनका मुँह न खुलता था, उन्हीं की अब महतो-महतो कहते ज़बान सूखती थी। कभी-कभी भजन-भाव हो जाता। एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा, तो गाँव में आसन जमा दिया। गाँजे और चरस की बहार उड़ने लगी। एक ढोलक आई, मँजीरे मँगवाए गए, सत्संग होने

लगा। यह सब सुजान के दम का जलूस था। घर में सेरों दूध होता; मगर सुजान के कंठ-तले एक बूँद जाने की भी क़सम थी। कभी हाक़िम लोग चखते, कभी महात्मा लोग। किसान को दूध-घी से क्या मतलब, उसे तो रोटी और साग चाहिए। सुजान की नम्रता का अब पारावार न था। सबके सामने सिर झुकाए रहता, कहीं लोग यह न कहने लगें कि धन पाकर इसे घमंड हो गया है। गाँव में कुल तीन ही कूएँ थे, बहुत-से खेतों मे पानी न पहुँचता था, खेती मारी जाती थी, सुजान ने एक पक्का कूआँ बनवा दिया। कूएँ का विवाह हुआ, यज्ञ हुआ, ब्रह्मभोज हुआ। जिस दिन कूएँ पर पहली बार पुर चला, सुजान को मानो चारों पदार्थ मिल गए। जो काम गाँव में किसी ने न किया था, वह बाप-दादा के पुण्य-प्रताप से सुजान ने कर दिखाया।

एक दिन गाँव में गया के यात्री आकर ठहरे। सुजान ही के द्वार पर उनका भोजन बना। सुजान के मन में भी गया करने की बहुत दिनों से इच्छा थी। यह अच्छा अवसर देखकर वह भी चलने को तैयार हो गया।

उसकी स्त्री बुलाकी ने कहा—अभी रहने दो, अगले साल चलेंगे।

सुजान ने गम्भीर भाव से कहा—अगले साल क्या होगा, कौन जानता है। धर्म के काम में मीन-मेष निकालना अच्छा नहीं। जिन्दगानी का क्या भरोसा?

बुलाकी—हाथ ख़ाली हो जायगा।

सुजान—भगवान् की इच्छा होगी, तो फिर रुपये हो जायँगे, उनके यहाँ किस बात की कमी है।

बुलाकी इसका क्या जवाब देती। सत्कार्य में बाधा डालकर अपनी मुक्ति क्यों बिगाड़ती! प्रातःकाल स्त्री और पुरुष गया करने चले। वहाँ से लौटे, तो यज्ञ और ब्रह्मभोज की ठहरी। सारी बिरादरी निमन्त्रित हुई, ग्यारह गाँवों में सुपारी बँटी। इस धूम-धाम से कार्य हुआ कि चारों ओर वाह-वाह मच गई। सब यही कहते कि भगवान् धन दे, तो दिल भी ऐसा ही दे। घमंड तो छू नहीं गया, अपने हाथ से पत्तल उठाता फिरता था, कुल का नाम जगा दिया। बेटा हो, तो ऐसा हो। बाप मरा, तो घर में भूनी भाँग भी नहीं। अब लक्ष्मी घुटने तोड़कर आ बैठी हैं।

एक द्वेषी ने कहा—कहीं गड़ा हुआ धन पा गया है। इसपर चारों ओर से उसपर बौछारें पड़ने लगीं—हाँ, तुम्हारे बाप-दादा जो ख़ज़ाना छोड़ गए थे, वही उसके हाथ लग गया है। अरे भैया, यह धर्म की कमाई है। तुम भी तो छाती फाड़कर काम करते हो, क्यों ऐसी ऊख नहीं लगती, क्यों ऐसी फ़सल नहीं होती? भगवान् आदमी का दिल देखते हैं, जो खर्च करना जानता है, उसी को देते हैं।

[२]

सुजान महतो सुजान भगत हो गए। भगतों के आचार-विचार कुछ और ही होते हैं। यह बिना स्नान किए कुछ नहीं खाता। गंगाजी अगर घर से दूर हों और वह रोज़ स्नान

करके दोपहर तक घर न लौट सकता हो, तो पर्वों के दिन तो उसे अवश्य ही नहाना चाहिए। भजन-भाव उसके घर अवश्य होना चाहिए। पूजा-अर्चा उसके लिये अनिवार्य है। खान-पान में भी उसे बहुत विचार रखना पड़ता है। सब से बड़ी बात यह है कि झूठ का त्याग करना पड़ता है। भगत झूठ नहीं बोल सकता। साधारण मनुष्य को अगर झूठ का दंड एक मिले, तो भगत को एक लाख से कम नहीं मिल सकता। अज्ञान की अवस्था में कितने ही अपराध क्षम्य हो जाते हैं। ज्ञानी के लिये क्षमा नहीं है, प्रायश्चित्त नहीं है, या है तो बहुत ही कठिन। सुजान को भी अब भगतों की मर्यादा को निभाना पड़ा। अब तक उसका जीवन मजूर का जीवन था। उसका कोई आदर्श, कोई मर्यादा उसके सामने न थी। अब उसके जीवन में विचार का उदय हुआ, जहाँ का मार्ग काँटों से भरा हुआ है। स्वार्थ-सेवा ही पहले उसके जीवन का लक्ष्य थी, इसी काँटे से वह परिस्थितियों को तौलता था। वह अब उन्हें औचित्य के काँटों पर तौलने लगा। यों कहो कि जड़-जगत से निकलकर उसने चेतन-जगत् में प्रवेश किया। उसने कुछ लेन-देन करना शुरू किया था; पर अब उसे व्याज लेते हुए आत्मग्लानि-सी होती थी। यहाँ तक कि गउओं को दुहाते समय उसे बछड़ों का ध्यान बना रहता था—कहीं बछड़ा भूखा न रह जाय, नहीं उसका रोयाँ दुखी होगा! वह गाँव का मुखिया था, कितने ही मुकदमों में उसने झूठी शहादतें बनवाई थीं, कितनों से डाँड़ लेकर मामले

रफ़ा-दफ़ा करा दिया था। अब इन व्यापारों से उसे घृणा होती थी। झूठ और प्रपंच से कोसों भागता था। पहले उसकी यह चेष्टा होती थी कि मजूरों से जितना काम लिया जा सके लो और मजूरी जितनी कम दी जा सके दो; पर अब उसे मजूरों के काम की कम, मजूरी की अधिक चिन्ता रहती थी—कहीं वेचारे मजूर का रोयाँ न दुखी हो जाय। यह उसका सखुनतकिया-सा हो गया—किसी का रोयाँ न दुखी हो जाय। उसके दोनों जवान बेटे बात-बात में उसपर फब्तियाँ कसते, यहाँ तक कि बुलाकी भी अब उसे कोरा भगत समझने लगी, जिसे घर के भले-बुरे से कोई प्रयोजन न था। चेतन-जगत् में आकर सुजान भगत कोरे भगत रह गए।

सुजान के हाथों से धीरे-धीरे अधिकार छीने जाने लगे। किस खेत में क्या बोना है, किसको क्या देना है, किससे क्या लेना है, किस भाव क्या चीज बिकी, ऐसी महत्त्व-पूर्ण बातों में भी भगतजी की सलाह न ली जाती। भगत के पास कोई जाने ही न पाता। दोनों लड़के या स्वयं बुलाकी दूर ही से मामला कर लिया करती। गाँव-भर में सुजान का मान-सम्मान बढ़ता था, अपने घर में घटता था। लड़के उसका सत्कार अब बहुत करते। उसे हाथ से चारपाई उठाते देख लपककर खुद उठा लाते, उसे चिलम न भरने देते, यहाँ तक कि उसकी धोती छाँटने के लिये भी आग्रह करते थे; मगर अधिकार उसके हाथ में न था। वह अब घर का स्वामी नहीं, मन्दिर का देवता था।

[३]

एक दिन बुलाकी ओखली में दाल छाँट रही थी। एक भिखमंगा द्वार पर आकर चिल्लाने लगा। बुलाकी ने सोचा, दाल छाँट लूँ, तो उसे कुछ दे दूँ। इतने में बड़ा लड़का भोला—आकर बोला—अम्माँ, एक महात्मा द्वार पर खड़े गला फाड़ रहे हैं। कुछ दे दो। नहीं, उनका रोयाँ दुखी हो जायगा।

बुलाकी ने उपेक्षा-भाव से कहा—भगत के पाँव में क्या मेंहदी लगी है, क्यों कुछ ले जाकर नहीं दे देते! क्या मेरे चार हाथ हैं? किस-किस का रोआँ सुखी करूँ, दिन-भर तो ताँता लगा रहता है।

भोला—चौपट करने पर लगे हुए हैं और क्या? अभी महँगू बेंग देने आया था। हिसाब से सात मन हुए। तौला तो पौने सात मन ही निकले। मैंने कहा—दस सेर और ला, तो आप बैठे-बैठे कहते हैं, अब इतनी दूर कहाँ लेने जायगा। भरपाई लिख दो, नहीं उसका रोयाँ दुखी होगा। मैंने भरपाई नहीं लिखी। दस सेर बाकी लिख दी।

बुलाकी—बहुत अच्छा किया तुमने, बकने दिया करो, दस-पाँच दफ़े मुँह की खाएँगे, तो आप ही बोलना छोड़ देंगे।

भोला—दिन-भर एक-न-एक खुचड़ निकालते रहते हैं। सौ दफ़े कह दिया कि तुम घर-गृहस्थी के मामले में न बोला करो; पर इनसे बिना बोले रहा ही नहीं जाता।

बुलाकी—मैं जानती कि इनका यह हाल होगा, तो गुरु-मन्त्र न लेने देती।

भोला—भगत क्या हुए कि दीन-दुनिया—दोनों से गए। सारा दिन पूजा-पाठ में ही उड़ जाता है। अभी ऐसे बूढ़े नहीं हो गए कि कोई काम ही न कर सकें।

बुलाकी ने आपत्ति की—भोला, यह तो तुम्हारा कुन्याय है। फावड़ा-कुदाल अब उनसे नहीं हो सकता; लेकिन कुछ-न-कुछ तो करते ही रहते हैं। बैलों को सानी-पानी देते हैं, गाय दुहाते हैं और भी जो कुछ हो सकता है, करते हैं।

भिक्षुक अभी तक खड़ा चिल्ला रहा था। सुजान ने जब घर में से किसी को कुछ लाते न देखा, तो उठकर अन्दर गया और कठोर स्वर से बोला—तुम लोगों को कुछ सुनाई नहीं देता कि द्वार पर कौन घंटे भर से खड़ा भीख माँग रहा है? अपना काम तो दिन-भर करना ही है, एक छन भगवान् का काम भी तो किया करो।

बुलाकी—तुम तो भगवान् का काम करने को बैठे ही हो, क्या घर-भर भगवान ही का काम करेगा?

सुजान—कहाँ आटा रक्खा है, लाओ मैं ही निकालकर दे आऊँ। तुम रानी बनकर बैठो।

बुलाकी—आटा मैंने मर-मरकर पीसा है, अनाज दे दो। ऐसे मुड़चिरों के लिये पहर-रात से उठकर चक्की नहीं चलाती हूँ।

सुजान भंडार-घर में गए और एक छोटी-सी छबड़ी को

क़ानून से भी तो मेरा कुछ होता है। मैं अपना हिस्सा नहीं खाता, दूसरों को खिला देता हूँ; इसमें किसी के बाप का क्या साझा! अब इस वक्त मनाने आई है! इसे मैंने फूल की छड़ी से भी नहीं छुआ, नहीं तो गाँव में ऐसी कौन औरत है, जिसने खसम की लातें न खाई हों, कभी कड़ी निगाह से देखा तक नहीं। रुपये-पैसे, लेना-देना, सब इसी के हाथ में दे रक्खा था। अब रुपये जमाकर लिए हैं, तो मुझी से घमंड करती है। अब इसे बेटे प्यारे हैं, मैं तो निखट्टू, लुटाऊ, घर-फूँकू, घोंघा हूँ। मेरी इसे क्या परवा। तब लड़के न थे, जब बीमार पड़ी थी और मैं गोद उठाकर बैद के घर ले गया था, आज इसके बेटे हैं और यह उनकी माँ है। मैं तो बाहर का आदमी हूँ, मुझसे घर से मतलब ही क्या। बोला—मैं अब खा-पीकर क्या करूँगा, हल जोतने से रहा, फावड़ा चलाने से रहा। मुझे खिलाकर दाने को क्यों खराब करोगी। रख दो बेटे दूसरी बार खाएँगे।

बुलाकी—तुम तो ज़रा-ज़रा-सी बात पर तिनक जाते हो। सच कहा है, बुढ़ापे में आदमी की बुद्धि मारी जाती है। भोला ने इतना ही तो कहा था कि इतनी भीख मत ले जाओ, या और कुछ?

सुजान—हाँ, बेचारा इतना ही कहकर रह गया। तुम्हें तो तब मज़ा आता, जब वह ऊपर से दो-चार डंडे लगा देता। क्यों, अगर यही अभिलाषा है, तो पूरी कर लो। भोला खा चुका होगा, बुला लाओ। नहीं, भोला को क्यों बुलाती हो, तुम्हीं न जमा दो दो-चार हाथ। इतनी कसर है, वह भी पूरी हो जाय।

बुलाकी—हाँ, और क्या, यही तो नारी का धरम है। अपना भाग सराहो कि मुझ-जैसी सीधी औरत पा ली। जिस बल चाहते हो, बिठाते हो। ऐसी मुँहज़ोर होती, तो तुम्हारे घर में एक दिन निबाह न होता।

सुजान—हाँ भाई, वह तो मैं ही कह रहा हूँ कि तुम देवी थीं और हो। मैं तब भी राक्षस था और अब तो दैत्य हो गया हूँ। बेटे कमाऊ हैं, उनकी-सी न कहोगी तो क्या मेरी-सी कहोगी, मुझसे अब क्या लेना देना है।

बुलाकी—तुम झगड़ा करने पर तुले बैठे हो, और मैं झगड़ा बचाती हूँ कि चार आदमी हँसेंगे। चलकर खाना खा लो सीधे से, नहीं तो मैं भी जाकर सो रहूँगी।

सुजान—तुम भूखी क्यों सो रहोगी, तुम्हारे बेटों की तो कमाई है, हाँ मैं बाहरी आदमी हूँ।

बुलाकी—बेटे तुम्हारे भी तो हैं?

सुजान—नहीं, मैं ऐसे बेटों से बाज आया। किसी और के बेटे होंगे। मेरे बेटे होते, तो क्या मेरी यह दुर्गति होती?

बुलाकी—गालियाँ दोगे, तो मैं भी कुछ कह बैठूँगी। सुनती थी मर्द बड़े समझदार होते हैं, पर तुम सबसे न्यारे हो। आदमी को चाहिये कि जैसा समय देखे, वैसा काम करे। अब हमारा और तुम्हारा निबाह इसी में है कि नाम के मालिक बने रहें और वही करें, जो लड़कों को अच्छा लगे। मैं यह बात समझ गई, तुम क्यों नहीं समझ पाते। जो कमाता है, उसी का घर में राज होता है, यही दुनिया का

दस्तूर है। मैं बिना लड़कों से पूछे कोई काम नहीं करती, तुम क्यों अपने मन की करते हो? इतने दिनों तो राज कर लिया, अब क्यों इस माया में पड़े हो? आधी रोटी खाओ, भगवान् का भजन करो और पड़े रहो। चलो खाना खा लो।

सुजान—तो अब मैं द्वार का कुत्ता हूँ?

बुलाकी—बात जो थी, वह मैंने कह दी, अब अपने को जो चाहे समझो।

सुजान न उठे। बुलाकी हारकर चली गई।

सुजान के सामने अब एक नयी समस्या खड़ी हो गई थी। वह बहुत दिनों से घर का स्वामी था और अब भी ऐसा ही समझता था। परिस्थिति में कितना उलट-फेर हो गया था, इसकी उसे खबर न थी। लड़के उसकी सेवा-सम्मान करते हैं, यह बात उसे भ्रम में डाले हुए थी। लड़के उसके सामने चिलम नहीं पीते, खाट पर नहीं बैठते, क्या यह सब उसके गृहस्वामी होने का प्रमाण न था? पर आज उसे ज्ञात हुआ कि यह केवल श्रद्धा थी, उसके स्वामित्व का प्रमाण नहीं। क्या इस श्रद्धा के बदले वह अपना अधिकार छोड़ सकता था? कदापि नहीं। अब तक जिस घर में राज्य किया, उसी घर में पराधीन बनकर वह नहीं रह सकता। उसको श्रद्धा की चाह नहीं, सेवा की भूख नहीं। उसे अधिकार चाहिए। वह इस घर पर दूसरों का अधिकार नहीं देख सकता। मन्दिर का पुजारी बनकर वह नहीं रह सकता।

न-जाने कितनी रात बाकी थी। सुजान ने उठकर गँड़ासे

से बैलों का चारा काटना शुरू किया। सारा गाँव सोता था, पर सुजान करवी काट रहे थे। इतना श्रम उन्होंने अपने जीवन में कभी न किया था। जब से उन्होंने काम करना छोड़ा था, बराबर चारे के लिये हाय-हाय पड़ी रहती थी। शंकर भी काटता था, भोला भी काटता था, पर चारा पूरा न पड़ता था। आज वह इन लौंडों को दिखा देंगे, चारा कैसे काटना चाहिए। उनके सामने कटिया का पहाड़ खड़ा हो गया और टुकड़े कितने महीन और सुडौल थे, मानो साँचे में ढाले गए हों!

मुँह-अँधेरे बुलाकी उठी, तो कटिया का ढेर देखकर दंग रह गई। बोली—क्या भोला आज रात-भर कटिया ही काटता रह गया? कितना कहा कि बेटा जी से जहान है; पर मानता ही नहीं। रात को सोया ही नहीं।

सुजान भगत ने ताने से कहा—वह सोता ही कब है। जब देखता हूँ, काम ही करता रहता है। ऐसा कमाऊ संसार में और कौन होगा।

इतने में भोला आँखें मलता हुआ बाहर निकला। उसे भी यह ढेर देखकर आश्चर्य हुआ। माँ से बोला—क्या शंकर आज बड़ी रात को उठा था, अम्माँ?

बुलाकी—वह तो पड़ा सो रहा है। मैंने तो समझा, तुमने काटी होगी।

भोला—मैं तो सबेरे उठ ही नहीं पाता। दिन-भर चाहे जितना काम कर लूँ; पर रात को मुझसे नहीं उठा जाता।

बुलाकी—तो क्या तुम्हारे दादा ने काटी है?

भिक्षुक डर रहा था कि कहीं उसने अनाज भर लिया और भोला ने गठरी न उठाने दी, तो कितनी भद्द होगी। और भिक्षुकों को हँसने का अवसर मिल जायगा। सब यही कहेंगे कि भिक्षुक कितना लोभी है। उसे और अनाज भरने की हिम्मत न पड़ी।

तब सुजान भगत ने चादर लेकर उसमें अनाज भरा और गठरी बाँधकर बोले--इसे उठा ले जाओ।

भिक्षुक--बाबा, इतना तो मुझसे उठ न सकेगा।

भगत--अरे! इतना भी न उठ सकेगा! बहुत होगा, तो मन-भर। भला ज़ोर तो लगाओ, देखूँ उठा सकते हो या नहीं।

भिक्षुक ने गठरी को आज़माया। भारी थी, जगह से हिली भी नहीं। बोला--भगतजी, यह मुझसे न उठेगी।

भगत--अच्छा बताओ, किस गाँव में रहते हो?

भिक्षुक--बड़ी दूर है भगतजी, अमोला का नाम तो सुना होगा?

भगत--अच्छा, आगे-आगे चलो, मैं पहुँचा दूँगा।

यह कहकर भगत ने ज़ोर लगाकर गठरी उठाई और सिर पर रखकर भिक्षुक के पीछे हो लिए। देखनेवाले भगत का यह पौरुष देखकर चकित हो गए। उन्हें क्या मालूम था कि भगत पर इस समय कौन-सा नशा था। आठ महीने के निरन्तर अविरल परिश्रम का आज उन्हें फल मिला था। आज उन्होंने अपना खोया हुआ अधिकार फिर पाया था। वही तलवार, जो केले को भी नहीं काट सकती, सान पर

चढ़कर लोहे को काट देती है। मानव-जीवन में लाग बड़े महत्त्व की वस्तु है। जिसमें लाग है, वह बूढ़ा भी हो तो जवान है, जिसमें लाग नहीं, गैरत नहीं, वही जवान भी हो, तो मृतक है। सुजान भगत में लाग थी और उसीने उन्हें अमानुषीय बल प्रदान कर दिया था। चलते समय उन्होंने भोला की ओर सगर्व नेत्रों से देखा और बोले—ये भाट और भिक्षुक खड़े हैं, कोई खाली हाथ न लौटने पावे।

भोला सिर झुकाए खड़ा था। उसे कुछ बोलने का हौसला न हुआ। वृद्ध पिता ने उसे परास्त किया था।

अभ्यास

१—'सुजान भगत' की कहानी के आधार पर किसानों के आतिथ्य-सत्कार पर एक लेख लिखो।

२—इस कहानी से लोगों को कौन-सी शिक्षा दी गई है।

३—वाक्यों का भाव समझाओ—

'वही तलवार जो केले को भी नहीं काट सकती सान पर चढ कर लोहे को भी काट देती है।'

'मानव-जीवन में लाग बड़े महत्त्व की वस्तु है।'

४—चन्द्रमा बली होना, मीन-मेष निकालना, सुपारी बाँटना, मेंहदी लगना, कमर सीधी करना, का अर्थ बतलाओ।

५—'वह घर का स्वामी नहीं, मन्दिर का देवता था।' सुजान भगत के सम्बन्ध की इस उक्ति को उसके चरित्र से सिद्ध करो।

६—इन कहानियों में से भाषा, भाव और चरित्र-विचार से किस कहानी को उत्तम कहा जा सकता है? उत्तर सप्रमाण दो।